महामहोपाध्याय-श्रीजीमूतवाहनप्रणीतो

दायभागः



सम्पादकः

अ० सुब्रह्मण्यशास्त्री
मीमांसारत्नं, मीमांसावेदान्ताचार्यः
का० हि० वि० वि०

दायभागः

महामहोपाध्याय श्रीजीमूतवाहनकृतः

Mimansa Dharmashastra Text Series V

DAYA BHAG

By

Mahamahopadhyaya Paribhadriya Jimoot Vahan

(with critical notes and introduction)

Edited and Published by

A. Subrahmanya Sastri, Mimamsa Vedantacharya
Head of the Department of Mimamsa Dharmashastra
B. H. U.

Foredword by

Prof. ANAND JEE
Dean, Law School, B. H. U.

Vasanta Panchami
2029(Samvat)

Varanasi
8.2.1973.

मीमांसा-धर्मशास्त्रग्रन्थमालायाः पञ्चमं पुष्पम्

दायभागः

महामहोपाध्याय-श्रीजीमूतवाहनकृतः

मीमांसारत्नं अ० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणा मीमांसावेदान्ताचार्येण
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीय प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसंकाये
धर्मशास्त्र-मीमांसादर्शनविभागध्यक्षेण
अनेकादर्शकोशानुसारेण संशोध्य
संपादिता प्रकाशिता च

वसन्तपञ्चमी
संवत् २०२९ वाराणसी ८-२-७३

प्रकाशक :—

प्र० सुब्रह्मण्यशास्त्री

तृतीय संस्करणम्

मूल्यम् १० रु०

मुद्रक :—

कौस्तुभानन्द पाण्डेय

पर्वतीय मुद्रणालय

पंचगंगा—वाराणसी

Foreword

I have great pleasure in writing a foreword to professor A.S. shastri's commentary on JIMUTAVAHNA'S DAYA-BHAGA.

Commentaries and Digests, apart from being the compendia of the vast Dharma Shastraic literature, are the repository of values which have moulded the Indian society. While reflecting cultural and philosophical outlook of ancwfent India, they not only provide mechanism for meeting the ever changing socio-politico-economic needs of the society but also for augmenting the preferred values. JIMUTAVAHANA'S DAYABHAGA is a classical illustration of this dynamic approach.

The twentieth century interest in the Shastric literature is understandable, particularly in the prevailing context of departure from traditional values and lack of definition of the emerging values. But it is regretable that Western scholars have tried to learn classical Sanskrit to under stand and appreciate our ancient works. We ourselves are neglecting the study of the great classical language. The result is our lack of understanding of our own society.

In this context, Professor Shastri's attempt to publish JIMUTAVAHANA'S work in simple Sanskrit language with brief annotations in Hindi in the preface, is laudable.

The book will not only fill a gap in our understanding but will be of immense benefit to students pursuing a course of Dharmashastra or Ancient Hindu Law wherever they are taught.

Professor Shastri, with his command over classical Sanskrit, modern simple Sanskrit and Hindi languages as well as his scholarship is eminently fitted to write the present Commentary.

Prof. Anandjee
Dean
LAW SCHOOL
Banar as Hindu University,
Varanasi

प्रस्तावना

भारत वर्ष धर्मप्रधान देश है, वह धर्म-श्रुति, स्मृति, सदाचार, आत्म-तुष्टि आदि प्रमाणों से सिद्ध है। इस विषयका विशेष रूप से धर्मसूत्रों में विवेचन है। श्रुति, स्मृति, वृत्ति, व्याख्या, उपव्याख्या तथा निबन्ध ग्रन्थों से धर्म शास्त्र का बृहन् विशाल काय होने के कारण यह महान् दुरूह विषय है। इसमें तीन काण्ड हैं—(१) आचार (२) व्यवहार (३) प्रायश्चित्त। उनमें व्यवहाराध्याय बहुत विस्तृत है, जिसके ऋणदानादि अट्ठारह पद (अंश) हैं, उनमें एक दायभाग भी है। इसका मूल अदृष्ट है (अभ्युदय निःश्रेयस है), आनुषंगिक दृष्ट प्रयोजन है। श्रुति बताती है कि "जायमानो वै ब्राह्मणः"[1] यह श्रुति वर्णाश्रम व्यवस्थामूलक प्राचीन भारतीय-संस्कृति की नींव है, अर्थात् इसी आधार के बल से भारतीय संस्कृति (हिन्दू धर्म) स्थिर है, इसका यह अर्थ है—जो ब्राह्मण है वह देवऋण, पितृऋण, ऋषि-ऋण इन तीनों ऋणों से युक्त होकर जन्म लेता है। जो पुत्रवान् है या यागकर्ता है, गुरुकुल में रहकर वेदाध्ययन करता है (वह इन ऋणों से उऋ ण होता है)।

(२) इसी प्रकार इस लोक में, परलोक में तथा स्वर्गलोक में भी हम ऋण से मुक्त रहें।[2]

दायका मुख्य अधिकारी पुत्र होता है, शेष गौण हैं।

पुत्र की प्रशंसा

पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति है "पुंनामक नरक" से अपने पिता की रक्षा करने के कारण वह पुत्र कहलाता है। पुत्र का मुख देखकर पिता अपने पितृ-ऋण से मुक्त होता है, पुत्र से इस लोक में विजयी होता है, पौत्र से

---

१. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः यज्ञेन देवेभ्यः, प्र जया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी, आचार्यकुलवासी। तै० सं० ६–४–६

२. "अनृणा अस्मिन् आदि" तै० आ० द्वि० प्र०

श्रानन्त्य को प्राप्त करता है, पुत्र के पौत्र से ब्रध्नलोक आदित्य लोक को प्राप्त करता है। तीन ऋणों से मुक्त होने पर मोक्ष का अधिकारी होता है, अन्यथा नहीं। बिना तीन ऋणों से मुक्त हुए मोक्ष को चाहने वाला पतित होता है। इनमें नीचे दिये हुए वचन प्रमाण हैं—

(१) जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि ऋणैं वा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी तै०– सं० ६—४—६

(२) प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः।

(३) प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः

(४) पश्यति पुत्रम्, पश्यति पौत्रम्, तै० ब्रा० २—१

(५) अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥
अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥ मनुः

(६) पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥ मनु० ६, १३८।

(७) पुन्नामा निरयः प्रोक्तश्छिन्नतन्तुश्च नैरयः।
तत्र वै त्रायते यस्मात् तस्मात् पुत्र इति स्मृतः॥ हा०

(८) लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकैः।
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्॥ मा० १, ७८।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः। ६–३५,३५, ३७।

(९) शंखलिखितौ—
पितृणामनृणो जीवन् दृष्ट्वा पुत्रमुखं पिता।
स्वर्गी स तेन जातेन तस्मिन् संन्यस्य तदृणम्॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः यज्ञाश्च शतदक्षिणाः।
ज्येष्ठपुत्रप्रसूतस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(१०) मनु-शंखलिखित-विष्णु-वसिष्ठ-हारीताः—
पुत्रेण लोकान् जयति, पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥
अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदश्शतम्॥

यथेह पुरुषस्यात्मा तथा त्वमिह जायसे।
आत्मा पुत्र इति प्रोक्तः पितुर्मातुरनुग्रहात् ॥
पुन्नाम्नस्त्रायसे यस्मात् पुत्रस्तेनासि संज्ञितः

११—शत मिन्नु शरदः, रतिफलन्तु लोकसिद्धमेव। मिता० पृ० २३।

"प्रजा से ही मनुष्य पूर्ण होता है। प्रजा रूपी सूत को मत तोड़ो" इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए माधवाचार्य कहते हैं कि विवाह कर पुत्र पौत्रादि रूपी प्रजा के विस्तार को विच्छेद मत करो।

दाय भाग का मौलिक भेद

समग्र भारत वर्ष में याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या मिताक्षरा के अनुसार प्रायशः सभी प्रान्तों में दायका निर्णय होता है, परन्तु वंग देश में जीमूत-वाहन का दायभाग चलता है, जो धर्मरत्न का एक अंश है। धर्मरत्न एक विशालकाय निबन्व ग्रन्थ है। उसकी कई व्याख्यायें छपी हैं, इसकी चर्चा आगे की जायगी। उसमें रघुनन्दन भट्टाचार्य का दायतत्त्व भी प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

इसमें जीमूत वाहन ने मनु, नारद, बृहस्पति, विष्णु, शंख, लिखित, गौतम, आपस्तम्ब तथा बौधायनादि के वचनों के आधार पर विज्ञानेश्वर ने जो व्याख्या की है उसका खण्डन करते हुए संशय निरास कर दूसरे प्रकार से प्रतिपादन किया[१] है। जैसे—(१) स्वत्व अलौकिक है या अलौकिक जन्म से स्वत्व होता है या उपरान्त उपरम स्वत्वहोता है। (२) विभाग का काल (३) अधिकारी (४) अपुत्र मृतभर्ता की सम्पत्ति में पत्नी का सम्पूर्ण अधिकार (५) अप्रजस्त्रीधन का अधिकारी (६) संसृष्टि धन के अधिकारी आदि विषयों का सप्रमाण प्रतिपादन किया है जो मिताक्षरा से नितरां भिन्न है। यद्यपि ग्रन्थ कर्ता ने विज्ञानेश्वर का नाम लेकर खण्डन नहीं किया है, किन्तु केचित् भ्रान्तलिखितमित्यादि शब्दों से बड़े अभिनिवेश के साथ खण्डन किया है।

मिताक्षरा में विभाग के काल तीन हैं और जीमूत वाहन के मत में दो हैं। इन विषयों का वर्णन विशद रूप से जहाँ तहाँ नीचे टिप्पणी में भी दिया है।

इसमें पन्द्रह अध्याय हैं।

---

१. नाचार्यगौरवपराहतदायभागतत्त्वप्रबोधजनरञ्जनमत्रशक्यम्।
किन्तु प्रमाणपरतन्त्रधियां मुनीनां संवादमात्रकृतये कृतिनः प्रयत्नः ॥

२. दायभागं चकारेमं विदुषां संशयच्छिदे।

१ प्रथमाध्याय में मन्वादि[१] वचनों की व्याख्या करने में व्याख्याकारों का जो विवाद है उसको दूर करते हुए समञ्जस (उत्तम) व्याख्याका वर्णन किया है अर्थात् कर्तव्यार्थं की प्रतिज्ञा की है ।

विभागोऽर्थस्य इत्यादि नारद वचन का उपन्यास[२], उसका व्याख्यान उसमें मानवादि वचनों का उपष्टम्भकतया व्याख्यान किया गया है। दाय[३] शब्द रूढ़ है यौगिक नहीं[४]।

नारद स्मृति में षष्ठ्यन्त पितृ शब्द, तृतीयान्त पुत्र शब्द ये दोनों सम्बन्धिमात्र के उपलक्षण हैं। अतः सम्बन्धिमात्र धन में दाय शब्द का प्रयोग होने के कारण दाय शब्द की यह व्युत्पत्ति है "दीयत इति" और ददाति शब्द का प्रयोग गौण है क्योंकि जो मर गये या संन्यासी हो गये इस स्थल में स्वत्व निवृत्ति परस्वत्व का उपलक्षण समान है। क्योंकि मृतादि का त्याग नहीं होता है, इस लिये जो स्वामि सम्बन्ध के अधीन हो और उसके स्वत्व का उपरम होने पर जिस द्रव्य में स्वत्व होता है उसी में दाय शब्द निरूढ़ है।[५]

एक देश से उपात्त तथा भू-हिरण्यादि में उत्पन्न स्वत्वका नियामक प्रमाण नहीं होने के कारण यह इसका द्रव्य है, यह इसका है, इस प्रकार वैशेषिक व्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे स्वत्व का गुटिकापातादि से व्यक्त करने को विभाग कहते हैं।[६]

---

१. मन्वादि वाक्यान्यविमृश्य येषामस्मिन् विवादो बहुधा बुधानाम् ।
तेषां प्रबोधाय स दायभागः निरूपणीयः सुधियः शृणुध्वम् ॥

२. पित्र्यस्येति पुत्रैरिति च द्वयमपि सम्बन्धिमात्रोपलक्षणम्,
सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रधनविभागेऽपि दायपदप्रयोगात् ॥

३. व्यवहार प्रकाश में इसीको उतार दिया गया है ।

४. दीयत इति व्युत्पत्त्या दायशब्दः ददातिशब्दश्च गौणः ।

५. मृत प्रव्रजितादि स्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोपत्तिफलस्वाम्यात्, न तु मृतादीनां तत्र त्यागोऽस्ति, ततश्च पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीनं तत्स्वाम्युपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वं तत्र निरूढो दायशब्दः । दायभाग पृ० २

६. एकदेशोपात्तस्यैव भू-हिरण्यादावुत्पन्नस्य स्वत्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतया व्यवस्थितस्य गुटिकापातादिना व्यञ्जनं विभागः । दाय भाग १ पृ० २

विशेष रूप से विभक्त करना या स्वत्व बोधन को विभाग कहते हैं।[१]

दाय भाग के व्याख्याता रघुनन्दन भट्टाचार्य ने यथाश्रुत मूल ग्रन्थ को निराकरण कर दूसरे ढंग से विवेचन करके प्रतिपादन किया है। "वस्तुतस्तु "इत्यादि'' विभागः इत्यन्त" ग्रन्थ से[२]। इस प्रकार विचार करते हुए पितृ धन का विभाग काल बताया है।

२ दूसरे अध्याय में पितामह धन के विभाग का काल बताया गया है। इस प्रसंग में "भूर्या पितामहोपात्ता" इस याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा व्याख्या का खण्डन कर दूसरी व्याख्या की गयी है। यह ग्रन्थशरीर में स्पष्ट है,—श्लोक सं० या० स्मृ० २ काण्ड १२१।

जैसे याज्ञवल्क्य-वचन का यह अर्थ है—परमार्थ रूप से निर्दोष विद्या के प्रकाश से स्पष्ट होता है।[३]

३ तृतीय अध्याय में २ परिच्छेद हैं, उनमें प्रथम परिच्छेद में

पिता के मरने के बाद भ्रातृकर्तृक विभाग का विवेचन किया है। इस मनु वचन को भी यहाँ समझना चाहिये।[४]

द्वितीय परिच्छेद में सवर्ण भाइयों का विभाग प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्रादि के क्रम से उनका विभाग कहा गया है।[५]

पितामह धन के पिता-पुत्र दोनों का सम विभाग नहीं है, पुनः विभाग में स्वातन्त्र्य नहीं,चाचा भाई के लड़के के तुल्य अधिकार के लिये बचन है।[६]

---

१. विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं वा विभागः।

२. इदमेव यथाश्रुतं निराकृत्य रघुनन्दनभट्टाचार्यः बचोभङ्ग्या विविच्य प्रतिपादयति वस्तुतस्तु इत्यादिना विभाग इत्यन्तेन। दायतत्त्व पृ० १६३।

---

३. तस्य निरवद्यविद्याविद्योतेन द्योतितस्तत्त्वतोऽयमर्थः——पिण्डदत्वाविशेषात् दा० भा० पृ० ६।

४. इदानीमुपरते पितरि भ्रातृणां विभागः कथ्यते-ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्चेति,मनुः६।१०४

५. समानजातिसंख्या ये जातास्त्वेकेन सूनवः।
विभिन्नमातृकास्तेषां मातृभागः प्रशस्यते॥
यद्येकजाता वहवः समाना जातिसंख्यया,।
सापत्नास्तैर्विभक्तव्यं मातृभागेन धर्मतः॥ मृ० सं०

६. जनकेच्छाधीनन्यूनाधिकविभागनिराकरणार्थम्, मृतपितृकस्य भ्रातुः पुत्रस्य पितृव्येण सह तुल्याधिकारार्थं वा वचनम। दा० भा० पृ० ११,

४ चौथे अध्याय में तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में स्त्री-धन का विभाग बतलाने के लिये स्त्रीधन स्वरूप का विवेचन किया गया है। 'षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्' स्त्री-धन छः प्रकार के होते हैं। यहाँ षट् संख्या विवक्षित नहीं है। याज्ञवल्क्य, देवल, व्यास आदि इन वचनों को लेकर मत भेद से स्त्री-धन का विवेचन करते हुए अपने मत से स्त्री-धन का स्वरूप बताये हैं। कहा है कि इस प्रकार अव्यवस्थित जिसकी संख्या है, वैसे स्त्री-धन के कथन से संख्या विवक्षित नहीं है। उपर्युक्त वचन स्त्री-धन के कथनमात्र परक हैं। अपने मत से इस प्रकार जो भर्ता के द्वारा प्राप्त स्वातन्त्र्य से दान, विक्रय तथा भोग को करने को अधिकारिणी होती है, इसमें कात्यायन-वचन का प्रमाण दिया गया है[1]।

द्वितीय परिच्छेद में स्त्री-धन को विभाग बताया है। मातृ-धन को बहिन और भाई ये दोनों ले लें। यहाँ यद्यपि द्वन्द्व का श्रवण नहीं है, तथापि उनके समानार्थक चकार से भाई-बहिन दोनों ही विभाग कर लें, यही इसका तात्पर्य है[2]।

शंख-लिखित स्पष्ट कहते हैं कि सहोदर, कुमारी दोनों समान रूप से द्रव्य को प्राप्त करें। इससे जो कहता है। 'पत्नी·दुहितरश्चेति' याज्ञवल्क्य स्मृति में चकार से पत्नी दुहिता दोनों को युगपत् अधिकार होता है, इसका निराकरण करने के लिये देवल वचन पर्याप्त है। यहां पी० वी० काणे महोदय ने उद्ग्राहमल्ल का देवल वचन गलहस्त है ऐसा व्याख्यान किया है, यह आपातसुन्दर ही समझना चाहिये। तत्रापि दुहिता और विवाहिता, पुत्रवती, सम्भावितपुत्रा इन सब का भी अधिकार समझना चाहिये। इसी क्रम में दौहित्र भी आता है। पूर्वोक्त सब दौहित्र पर्यन्त के अभाव में वन्ध्या, विधवा आदि का भी अधिकार है।

तीसरे परिच्छेद में 'अप्रजस्त्री-धन' का जो अधिकारी है, उसका विवेचन किया है। अप्रजस्त्री-धन में ब्राह्मादि चारों विवाहों में भर्ता का अधिकार है।

---

१. तदेवमव्यवस्थितसंख्यस्त्री-धनकीर्तनात् न षट् संख्या विवक्षिता किन्तु स्त्री·धनकीर्तनमात्रपराणि वचनानि, तदेव च स्त्री-धनम्, यत्र भर्तृतः स्वातन्त्र्येण दान, विक्रय, भोगान् कर्तुमधिकरोति। पृ० सं०

२. जनन्यां संस्थितायांतु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरनुमातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥

मनु० अ० ६ श्लोक १९२

इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने कहा है कि—'विवाह काल में प्राप्त जो स्त्री-धन है, उसीको ब्राह्मादि वचन बताता है।' यह बालक्रीडा में विश्वरूपाचार्य ने जो बताया हैं उसे मान लेना चाहिये।[1]

असुरादि विवाह के समय में प्राप्त जो स्त्री-धन है उसपर भर्ता के जीवित रहते हुए भी पहला अधिकार है माता का, दूसरा पिता का। "माता पित्रोस्तदिष्यते" इस वाक्य से ज्ञात होता है—प्रथम माता का तत्पश्चात् मिता का, यह क्रम है। दोनों का साथ अधिकार यदि होता तो 'पित्रोः ऐसा कहते, इस लिये माता-पिता का ही अधिकार है, इत्यादि। यहाँ मिताक्षरा के कई अंशों की समालोचना करके स्वयं अपने व्याख्या प्रकारको बताया है।

१. यह पिण्डदान विशेष से अधिकार का क्रम समझना चाहिये, यहाँ क्रम की एक तालिका दी गई है, इस क्रम को लेना चाहिये।[1]
२. वचनों का अर्थ न जानकर किया हुआ व्यवहार प्रामाणिकों के लिये ग्राह्य नहीं है।[2]
३. इस प्रकार अत्यन्त दुरूह अप्रजस्त्री-धन के अधिकार का क्रम कहा गया है।[3]

५ पञ्चमाध्याय का प्रतिपाद्य विषय है कि जो विभाग अनधिकारी को निरूपण करते हुए उनके पर्युदाससे अधिकारियों का प्रतिपादन किया है। जैसे-बृहस्पति[1] का कथन है कि—सवर्णा में जो उत्पन्न हो किन्तु गुणवान् न हो वह पैतृक धन में अधिकारी नहीं होता है, एवं आपस्तम्ब[2] का कथन है

---

१. अतः विवाहकाललब्धस्त्री-धनविषयं ब्राह्मादि वचनं विश्वरुपोक्तमावरणीयम्। इति।
२. अमीषां पिण्डदत्वाप्रतिपादनात्, अयं पिण्डदानविशेषाधिकारः क्रमः। प्रथमं देवक——अधिकारीति, अयं क्रमोग्राह्यः स्वस्त्रीचाद्या इति क्रमार्थम्; किन्त्वधिकारिमात्रज्ञापनार्थंपरम्।
३. अतो वचनार्थी परिज्ञानकृतो व्यवहारः प्रमाणपरतन्त्रैरतन्ती कर्तव्यः।
४. इत्यादि गहनमुक्तमप्रजस्त्री-धनम्।
५. सवर्णजोप्यगुणवान् नार्हः स्यात् पैतृके धने। आदि।
६. सर्वे हि धर्मयुक्ताः भागिनो द्रव्यमर्हन्ति। आदि। आपस्तम्बस्यायमर्थः—पित्रादेरौर्ध्वदैहिकस्य कर्मणोऽसंस्कृतः सुतः श्रेष्ठः, नापरो वेदपारगः। इति।

कि--सभी धर्मयुक्त लड़के भागी होते हैं किन्तु अनुपनीत पुत्र भी श्रेष्ठ है। दूसरा वेदाऽध्ययन सम्पन्न होने पर भी अधिकारी नहीं होता है। यह निष्कर्ष है कि--जो विकर्मस्थ हैं, जो नपुंसक तथा पतित है, उनका अधिकार नहीं, सूरदास, बधिर, उन्मत्त, जड़ मूकादि और शक्ति[1] हीन हैं।

नपुंसक का पुंस्त्व न होने के कारण, मूकादि का उपनयन संस्कार न होने के कारण वेदाऽध्ययन नहीं, अतः ये सब पतित हैं। 'तो इनका दार परिग्रह कैसे होगा ? किन्तु इनके यथासम्भव औरस, क्षेत्रज पुत्र क्लीबादि दोष न होने से पिता के अनुसार भागीदार होते हैं।[2]

याज्ञवल्क्य ने कहा है "निर्दोष इनके सन्तान भागीदार होते हैं।" लड़की का विवाहपर्यन्त भरण-पोषण होना चाहिये। [3]अपुत्रा स्त्रियाँ यदि साधुवृत्ति वाली हैं तो उनका भी भरण-पोषण होना चाहिये। यदि वे स्त्रियाँ व्यभिचारादि दोषों से ग्रसित हैं, तो उनको हटा देना चाहिये।

६ छटे अध्याय में दो परिच्छेद हैं, प्रथम परिच्छेद में विभाज्य धन तथा अविभाज्य धन का विवेचन किया गया है। पितामह का हो या पिता का हो, जो स्वयं अर्जित है, उसमें सब का अधिकार है।[4]

मनु का कथन है कि, पैतृक द्रव्य को उपघात (विनाश) न करके जो अपने परिश्रम से कमाया है उसे नहीं देना चाहिये। विद्या धन के सम्बन्ध में जो समान विद्या वाले हैं उनको देना चाहिये। जो विद्वान् नहीं हैं उन्हें नहीं देना चाहिये।

होलाकाधिकरण न्याय का उपपादन

इस प्रसंग में पूर्वमीमांसा के प्रसिद्ध 'होलाकाधिकरणन्याय' का उपन्यास

---

१. सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्। मनु अ० ६ श्लोक २१४।

२. न चापुंस्त्वात् क्लीबस्य जननासामर्थ्यात्, अध्ययनाभावात्, मूकादेरुपनयनाभावेन पतितत्वात् कथं दारसम्बन्धः इति वाच्यम् ? क्लीबस्य पत्न्यामन्येन पुत्रोत्पादासम्भवात्, उपनयनानर्हस्यानुपनीतत्वे शूद्रवत् अपतितत्वात् तेन एतेषां यथा सम्भवमौरस क्षेत्रजाः क्लीबत्यादि शून्याः स्वपित्रनुसारेण भागहारिणः।

३. और सक्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः।
सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावन्न भर्तृसात्कृताः॥
अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्यास्साधुवृत्तयः।
निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च॥ या० २, १४१-१४२।

४. पैतामहञ्च पैत्रयञ्च यच्चान्यत् स्वयमर्जितम्।
दायादानां विभागे तु सर्वमेतद्विभज्यते॥

किया है।[1] इस ग्रन्थ में दो तीन जगह इस न्याय का ग्रन्थकार ने उपन्यास किया है। यह न्याय बड़े महत्व का है। भारत वर्ष में श्रुति-स्मृति धर्म में प्रमाण माने जाते हैं, उनमें श्रुति स्वत: प्रमाण होती है और स्मृति[2] वेदमूलक होकर प्रमाण मानी जाती है। श्रुति विरोध होने से विरोधाधिकरण न्याय से अप्रमाण है।[3]

होलाकाधिकरण में तत्तत् देश के जो धर्म हैं, जिन्हें शिष्ट लोग मानते आ रहे हैं (सभी नहीं) उनका मूलभूत प्राच्यादि शब्द को देना है या नहीं ? अर्थात् ये धर्म होलाकादि उन्हीं लोगों को करने हैं या सभी को करने हैं, यह संशय किया। वहाँ यह पूर्व पक्ष है जैसे—पर्वतादि में धूमको देखकर पर्वतीय वह्नि का अनुमान होता है दूसरी जगह का नहीं। इसी प्रकार होलाकादि का अनुष्ठान जिन लोगों में प्राप्त होता है उन्हीं लोगों को करना चाहिये, सब को नहीं। इस प्रकार (स्थावर देवता पूजन) आह्निनेबुकादि दाक्षिणात्यों में पाया जाता है अत: वे लोग ही इसे करें, सभी नहीं। सिद्धान्त है कि, प्राच्यादि शब्द जाति वाचक नहीं, गुण वाचक नहीं, आकृति वाचक (अवयव संस्थान) नहीं (पाणिनि सूत्र के अनुसार तद्धित प्रत्यय कई अर्थों में होते हैं)।[4]

इसीलिये प्राच्यादिपद को छोड़कर ही 'होलाका कर्तव्या' करना चाहिये[1]। इन विधिवाक्यों में प्राच्य, पाश्चात्य, दाक्षिणात्यादि शब्दों को छोड़ देना चाहिये। क्योंकि प्राच्य हैं वे किसी कारण वश (जीविका आदि के कारण) दक्षिण, पश्चिम या उत्तर में वंश पारंपर्य से जाकर रह जाने पर भी अपने परम्परागत आचार का अनुष्ठान करते हैं, अन्य लोग नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रुति-स्मृति का विरोध न होने पर

१. अपि वा सर्वधर्मस्स्यात् तन्न्यायत्वाद्विधानस्य। मी० द० १–३–८।
२. अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्। मी० द० १–३–१।
३. विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यात् असति ह्यनुमानम्। मी० द० १–३–२।
४. तत्र भव:, तत्रजात:, तत्र निवासी, तत आगत:, तं प्रति प्रस्थित:–आदि।
१. २–४० यदुक्तं होलाकाधिकरणे, न तत्रधिक फल्पनेति होलाकाधिकरणस्यार्थ इति २–४०।

होलाकाधिकरणन्यायस्यायमेव विषय:–इति ६–२३।
होलाकाधिकरणस्यात्रैव जागरूकत्वात्, ६–३८।

शिष्टाचार सबके लिये समान है। शिष्टाचार का अनुष्ठान करना चाहिये इस मौलिक तत्त्व को न्याय से निकाल कर मीमांसकों ने भारत को एक सूत्र में बांध कर भारतीय जनता की एकता सिद्ध करने में बड़ा योगदान किया है। यद्यपि इस विषय में बड़ा वैमत्य देखा जाता है। प्रायशः सभी ग्रन्थकार शास्त्रार्थ कर थक जाते हैं, अन्त में यथा देशकुलाचार व्यवस्था करते हैं।

इस प्रकार मीमांसको ने भारत वर्ष की एकता को कायम रखने के लिये प्रशंसनीय प्रयास किया है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रकृत ग्रन्थकार ने श्रीकरादि निबन्धकारों के सिद्धान्तों का खण्डन कर अपने वक्तव्य का समर्थन किया है।

कहने का तात्पर्य है कि पैतृक धन की अपेक्षा न कर स्वयं अर्जित धन में दूसरे का अंश नहीं है।[१]

इससे विज्ञानेश्वर ने जो "अविभक्त अर्जित होने से धन सर्व साधारण होता है, यह कहा है" वह अप्रामाणिक है।[२]

द्वितीय परिच्छेद में विद्याधन का निरूपण किया गया है।

७ सातवें अध्याय में विभाग के पश्चात् जो उत्पन्न होते हैं उनका विभाग बताया है। वृहस्पति का कहना है कि पिता से जो विभक्त हो चुके हैं, उसके पश्चात् जो उत्पन्न हुये हैं उन्हें पिता का ही अंश मिलता है। उसमें पूर्वज स्वामी नहीं हैं।[३]

गौतम कहते हैं कि, जो विभक्त होने पर उत्पन्न होता है वह पितृ धन का अधिकारी है। जीमूतवाहन ने बताया है कि विभाग के पहले जो उत्पन्न है वह पितृ-धन में अधिकारी है। विभक्त के बाद उत्पन्न होने से भ्रातृधन में अनधिकारी है। वह पिता से अर्जित धन मात्र को विषय करता है।[४] "विभक्तेषु सुतः" इत्यादि याज्ञवल्क्य वचन का उपर्युक्त विषय नहीं

---

१. तस्मादनुपधातार्जितं अर्जकस्यैव, नेत रेषामिति सिद्धम्।

२. तस्मादविभक्तार्जितत्व मात्रेणअविभक्त भ्रात्रन्तरस्य भवतीति असङ्गतं वचनम्।

३. पित्रा सह विभक्ता ये सपत्ना वा सहोदराः।
जघन्यजाश्च ये तेषां पितृभागहरास्तु ते॥
अनीशाः पूर्वजः पित्र्ये भ्रातृभागे विभक्तजः॥

४. इदञ्च पित्रुपात्तधनमात्रविषयम्।

है, किन्तु क्रमागत धन को विषय करता है।[१]

८ आठवें अध्याय में जो बाहर चले गये थे यदि विभाग के बाद लौटकर आवें तो वह विभाग के अधिकारी हैं। "विभाग किया गया हो या न हो धन का अधिकारी जहाँ जाता है, सामान्य धन में उसका भाग होता है। और तीसरा हो या पाँचवां हो या सातवां हो, जन्म नाम का परिज्ञान होने पर क्रमागत अंश का अधिकारी होता है। इत्यादि बृहस्पति वचनों से जीमूतवाहन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बहुकालपूर्व चले गये थे इसपरम्परा से उस देश के निवासी लोग (मौलाः) अपना परिचय देते हुए उनको भाग दें।[२]

९ नवमाध्याय में एकपितृक सवर्ण, अनुलोम, परिणीत स्त्री से जो लड़के हुए हैं, उनका विभाग कहा गया है।

१० दशम अध्याय में पुत्रिका और औरस पुत्र का विभाग कहा गया है। पुत्रिका व औरस इन दोनों में समान भाग होता है। पुत्रिका ज्येष्ठ होने से विंशोद्धार पाने की अधिकारिणी नहीं है।

यदि पुत्रिका का पुत्र हुआ है उसके पश्चात् औरस पुत्र होता है, तब पुत्रिका पुत्र की ज्येष्ठता है यह शंका नहीं होनी चाहिये। पुत्रिका पुत्र ये दोनों यदि समान वर्ण के हैं तब उनका समान अधिकार होता है। यदि असवर्ण हैं तब असवर्ण पुत्र की तरह विभाग समझना चाहिये।

इस प्रकार पुत्रिका और औरस पुत्र के विभाग का विवेचन किया गया है।

११ एकादश अध्याय में ६ परिच्छेद हैं। इसका एक गम्भीर विषय है, जिससे मिताक्षरा का पक्ष सुतरां निरस्त हो जाता है। उनके प्रथम परिच्छेद में अपुत्र मृत के धन का विभाग किया गया हैं। जिसके याज्ञवल्क्य स्मृति में ३ श्लोक हैं और जिसका विवेचन मिताक्षरा १२ पृष्ठों में हैं। इसने तो एक अध्याय ही बना दिया। उस अध्याय में ६ परिच्छेद हैं। दाय भाग (प्रस्तुत ग्रन्थ में) सबसे बड़ा यही अध्याय है। इसके प्रथम परिच्छेद में बृहस्पति के सात वचनों को लेकर भाई या चाचा अथवा दौहित्र आदि के

---

१. पित्र्यन्यमेव हरेद्धनमिति विरोधात् उक्तयुक्तेश्च क्रमागतधनविषयमिदम्।

२. तदनेन चिरप्रोषितवंश्येन समन्ताद् वासिभिः मौलैः आत्मज्ञापनपूर्वकं भागग्रहणं कार्यमिति।

रहते हुए भी[१] अपुत्र तथा मृत पति का जो स्थावर या जंगमात्मक धन है सब पत्नी का ही है।

याज्ञवल्क्य महर्षि भी पूर्व पूर्व के अभाव में पर पर के अधिकार को कहते हुए सबसे पहले पत्नी के अधिकार को कहते हैं।[२]

इस प्रसंग पर जो मिताक्षरा का कथन है अविभक्तसंसृष्टविषयक भ्राता का अधिकार है, विभक्तसंसृष्टविषयक पत्नी का अधिकार है, यह समाधान अनुवादकार का बृहस्पति-वचन से विरुद्ध है यह कहते हुए उक्तमत का निराकरण करते हैं।[३]

"अब बुद्धिमान् लोग यह समाधान करते हैं" यह आरम्भ कर समाधान किया है कि विष्णु आदि वचनों से पुत्रादि के अभाव मात्र से पत्नी आदि का अधिकार स्पष्ट प्रतीत होता है।[४]

यहाँ पुत्र पद से पौत्र, प्रपौत्र पर्यन्त समझना चाहिये क्योंकि पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र ये तीनों पार्वण विधि के पिण्डदान से उपकारक होते हैं। पौत्र का अधिकार बोधक वचन कहीं मिल भी सकता है, लेकिन प्रपौत्र का अधिकार बोधक पृथक् वचन नहीं है अतः पिण्डदान से उपकारकत्व तीनों में समान होने के कारण "अपुत्रस्य" इस स्मृतिवचन से पुत्र पद तीनों का उपलक्षण है।[५]

---

१. तदेतैः सप्तभिर्वचनैरपुत्रस्य यच्च यावच्च धनं स्थावरजङ्गमात्मकं तस्मिन् पत्न्या एवाधिकारः, सोदरभ्रातृपितृव्यदौहित्रेषु सत्स्वपि इति ब्रुवाणः बृहस्पतिः पत्नीसद्भावे पितृभ्रातृप्रभृतीनां धनाधिकारं सुदूरं निरस्यति।

२. अनेन पूर्वपूर्वस्याभावे परपरस्याधिकारं वदन् सर्वेभ्यः पूर्वं पत्न्या एव धनाधिकारमभिधत्ते। इति।

३. अत्र केचित् संसृष्टगोचरो भ्रात्रधिकारः प्रथमं विभक्तसंसृष्टगोचरः पत्न्यधिकारः, इति समादधति, तत् बृहस्पतिवचनविरुद्धम्।

४. सम्प्रति धीमद्भिः समाधीयते विष्णवादिवचनेभ्यः पुत्राद्यभावमात्रेण पत्न्यधिकारः स्पष्टमवगम्यत इति।

५. पुत्रपदं प्रपौत्र पर्यन्त परम्, तत्पर्यन्तानामेव पार्वणविधिना पिण्डदानोपकारकत्वस्याविशेषात् पौत्राधिकारज्ञापकं वचनं कथञ्चिल्लभ्येत, प्रपौत्रस्य तु न पृथक् वचनमस्ति। तस्मादुपकारकत्वादेव प्रपौत्रस्याधिकारः इति पुत्रपदमुपलक्षणम्।

दूसरे परिच्छेद में पत्नी के अभाव में दुहिता का अधिकार बताया गया है। तीसरे परिच्छेद में दौहित्र के अभाव में पिता का अधिकार कहा गया है। चौथे परिच्छेद में पिता के अभाव में माता का अधिकार कहा गया है। यहाँ "पितरौ" यह शब्द द्वन्द्व समास से निष्पन्न है। द्वन्द्व समास का अपवाद है एकशेष। एकशेष में क्रम न मालूम होने पर उस अर्थ के बोधक विग्रह वाक्य में मातृ शब्द पूर्वनिपात होने के कारण पिता साधारण है माता असाधारण है अतः पहिले माता का, उसके अभाव में पिता का अधिकार कहा है। विज्ञानेश्वर का व्याख्यान है, इस पर जीमूतवाहन कहते हैं कि, पितृ प्रातिपदिक से पहिले पिता की प्रतीति होती है, इसके पश्चात् द्विवचन के बल से एकशेष कर माता की प्रतीति होती है,इसलिये पहिले माता का अधिकार कैसे होगा ? तात्पर्य यह है इसका विष्णु वचन से विरोध हैं, दूसरी बात है विग्रह वाक्य में पूर्व निपात में एक शेष का द्वन्द्व से विकल्प होने के कारण उसके अपवाद होने से क्रम में कोई प्रमाण नहीं है।

इस पर श्रीकर ने तर्क दिया है कि क्रमज्ञान क्रमाभिधान से ज्ञात होता है। यहाँ क्रमज्ञान व्यापक है क्रमाभिधान व्याप्य है। जैसे व्याप्य से व्यापक का अनुमान होता है। वैसे व्यापकाभाव से व्याप्याभाव का अनुमान हुआ करता है। क्रमाभिधान की निवृत्ति होने से अर्थात् क्रमाभिधान नहीं होने से क्रमज्ञान भी नहीं होता। यह जो तर्क है वह विष्ण्वादि वचन से विरुद्ध होने से अप्रमाण है। अतः पिता का ही अधिकार होना चाहिये।[1]

चौथे परिच्छेद में पिता के अभाव में माता का अधिकार कहा गया है। पाँचवें परिच्छेद में माता के अभाव में भाई का अधिकार कहा गया है। छठे परिच्छेद में भाई के अभाव में भ्रातृ-पुत्र का अधिकार कहा गया है।

भ्राता का अधिकार बताते हुए "संसृष्टिनस्तु संसृष्टि" इत्यादि याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार श्रीकर का खण्डन मिताक्षरा तथा जीमूतवाहन इन दोनों ने किया है। खण्डन करके नित्य निषेध पक्ष में विधि-निषेध दोनों का वैयर्थ्य होता है। नित्य विधि मानने से निषेध व्यर्थ होगा। अतः विहित तथा प्रतिषिद्ध होने से विकल्प होता है। यहाँ अस्मदुक्तन्याय है आप के पक्ष

---

१. 'पितरौ' इत्यत्र पितृक्रम एवावगस्यते, तथा हि पितृपदात् प्रातिपदिकात् प्रथमं पितुरवगतेः अतः पश्चात्तु द्विवचनबलेन एकशेषकल्पनया मातुरवगमात्, अतः क्रमज्ञानं क्रमाभिधानंव्याप्तं, तन्निवर्तमानं क्रमज्ञानं निवर्तत इत्यनुमानात्।

में समुच्चय होगा यह ठीक नहीं है। यह उपसंहार किया है कि उक्त स्मृति का भ्रातृ मात्र विषय बताना ठीक नहीं है।[१]

पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इन तीनों का समान अधिकार सभी स्मृतियों से ज्ञात होता है, इस लिये उपकार के तारतम्य से धन सम्बन्ध न्याय से प्राप्त होता है। यह मन्वादि का भी अभिमत है। इस लिये निर्दोष विद्या के द्वारा प्रकाशित यह अर्थ विद्वान् लोगों के आदर करने योग्य है, इसमें यदि अपरितोष हैं तब अर्थ वाचनिक है जैसा हमने इन वचनों का अर्थ बताया है वही ग्राह्य है विस्तार से क्या प्रयोजन ?।[२]

१२ बारहवें अध्याय में संसृष्टि धन का विभाग बताया गया है। विभक्त भाई लोग पुनः यदि एक साथ निवास करते हैं, तब समान विभाग होता है। इसमें ज्येष्ठ को अलग हिस्सा नहीं मिलता है। इसी से बृहस्पति ने कहा है कि विभक्त किये हुए भाई लोग यदि प्रीति से पुनः एक साथ रहते हों तो पुनः विभाग में ज्येष्ठांश नहीं होता किन्तु समान होता है।[३]

बृहस्पति ने संसर्गी का लक्षण किया है कि, जो पिता, चाचा एवं भ्राता से विभक्त होकर पुनः प्रीति से एक साथ रहता हो तो वह संसृष्ट कहलाता है।[४]

१३ तेरहवें अध्याय में विभाग काल में छिपाये हुए (निह्नुत) धन का विभाग कहा गया है। इस विषय में मिताक्षराकार प्रभृति ने यह कहा है कि साधारण धन में दूसरों का भी धन है उसको छिपाने पर वह स्तेन(चोर) होता है। यह ठीक नहीं है क्योंकि "यह मेरा नहीं हैं; दूसरे का है" ऐसा

---

१. अतः भ्रातृमात्रवचनमनादरणीयम्। इति।

२. अत एव पुत्रपौत्रप्रौत्राणां तुल्यवदेवाधिकारः सिध्यति उपकारकत्वेनैव धनसम्बन्धो न्यायप्राप्तः मन्वादीनामभिमत इति मन्यते इति निरवद्य-विद्योद्योतेन द्योतितोऽयमर्थः विद्वद्भिः आदरणीयः अथात्रापरितोषो विदुषां वाचनिक एवायमर्थः तथापि यथोक्त एव वचनयोरर्थो ग्राह्यः, इत्यस्तु किं विस्तरेण।

३. विभक्ता भ्रातरो ये तु सम्प्रीत्यैकत्र संस्थिताः।
पुनर्विभागकरणे तेषां ज्यैष्ठयं न विद्यते ॥ इति ॥

४. विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः।
पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तु संसृष्ट उच्यते ॥इति॥

जो जानता है, वही चोर कहलाता है। लोक प्रसिद्धि भी इसी बात को पुष्ट करती है। इस लिये साधारण धन को अपहरण करने से स्तेन (चोर) की निष्पत्ति नहीं होती है, इस बात को विश्वरूपाचार्य ने भी कहा है।[१]

इसलिये जितेन्द्रिय ने भी प्रायश्चित्तकाण्ड में यह कहा है कि यदि सुवर्ण को लौह की बुद्धि से ग्रहण करता हैं असुवर्ण को सुवर्णबुद्धया, परकीय को आत्मीय बुद्धि से ग्रहण करता है तो यहाँ अपहार दोष नहीं होता है। अतः बालक निबन्धकार का वचन ठीक है।

१४ चौदहवें अध्याय में किये हुए विभाग में सन्देह होने पर उसका निर्णय कहा गया है।

१५ पन्द्रहवें अध्याय में ग्रन्थकर्ता का परिचयदिया गया है। जो प्रामाणिक है उनके सम्वाद को एकत्र करने के लिये मेरा यह प्रयत्न है आचार्य जी के ऊपर गौरव वृद्धि से दाय भाग का जो तत्त्व है उसको छिपा नहीं सकते. इस लिये प्राचीन निबन्धकारों की व्याख्या से जो संशय हुआ है उसे दूर करने के लिये पारिभद्र कुलोत्पन्न जीमूतवाहन ने दायभाग का निर्माण किया है।

जीमूतवाहन का वैशिष्टय

जीमूतवाहन ने दाय भाग के सम्बन्ध में नया कदम उठाया है, जिससे सारे निबन्धकर्ता एवं व्याख्याकारों ने क्षुब्ध होकर इसके खण्डन का भगीरथ प्रयत्न किया है, लेकिन तर्क पूर्ण होने के कारण इसका खण्डन नहीं हो पाता। 'शिव द्रोहे तात्पर्यम्' यही न्याय है।

वर्तमान शासन में भी जितना दायभाग की मान्यता है उतनी मिताक्षरा सम्प्रदाय की नहीं है। इस लिये मेधातिथि (मनु के भाष्यकार) का स्त्रियों का भाग नहीं, यह कहना सङ्गत नहीं है।[२]

जीमूत वाहन प्राचीन निबन्धकारों की युक्तियुक्त बातों का सम्मान करते हैं, जैसे "गोविन्दराज-विश्वरूप-जितेन्द्रियैर्यदुक्तं तदाद्रियते, तदेव वरम्" इत्यादि। परन्तु अयुक्त बातों की उपेक्षा भी कर देते हैं जैसे—'यत्तु

१. तदुक्तं विश्वरूपेणापि अतस्तस्करदोषो नास्तीति।

२. अतोऽयं मेधातिथिना पत्नीनामंशभागित्वं निषिद्धमुक्तं तदसम्बद्धम्—

पत्नीनामंशभागित्वं बृहस्पत्यादिसम्मतम्।
मेधातिथिर्निराकुर्वन् न प्रीणाति सतां मनः॥

कृ० म० ६, १८७

बालकेनोक्तं तत्तु बालकवचनमेव' इत्यादि। जीमूतवाहन को क्रान्तिकारी निबन्धकार कहना अतिशयोक्ति नहीं है, वे 'अयं पाठोऽनाकरः' कह कर स्पष्ट खण्डन कर देते हैं, यद्यपि श्रीमित्र मिश्र ने जीमूतवाहन का खण्डन करके मिताक्षरा का पूर्ण समर्थन किया है, क्योंकि वे विज्ञानेश्वर के परम भक्त हैं फिर भी कहीं-कहीं 'चिन्त्यम्' कहते हैं, इसका मूल खोजना चाहिये—

पत्नी, दुहिता, दौहित्र पर्यन्त कोई न होने पर किसका अधिकार है ? इस प्रसंग में मुख्यरूप से ३ पक्ष हैं १—श्रीकर, २—मिताक्षरा का और ३—जीमूतवाहन का। श्रीकर का कहना है कि पितरौ शब्द से माता पिता दोनों का समान तथा युगपदधिकार है, इन दोनों में क्रम नहीं ज्ञात होता, "क्रमाभिधानं क्रमज्ञानेन व्याप्तम्, व्यापकस्य क्रमज्ञानस्य निवृत्त्या व्याप्यस्य क्रमाभिधानस्य निवृत्तिः" इति। इस मत का खण्डन विज्ञानेश्वर एवं जीमूतवाहन दोनों ने किया है, विज्ञानेश्वर का कहना है कि दौहित्रपर्यन्त के अभाव में पहिला अधिकार माता का है, क्योंकि द्वन्द्वसमास है 'माता च पिता च' इस विग्रह वाक्य में माता का प्रथम निर्देश है, माता असाधारण और पिता साधारण है, उसके बाद पिता का अधिकार है। जीमूतवाहन इसका खंडन करते हैं। उनका अभिप्राय है विष्णु बृहस्पति आदि वचनों के साथ विरोध होने से 'भूयोऽनुग्रहन्याय' से पहिले पिता का अधिकार होता है फिर माता का। इसी निर्णय को सभी पश्चात् कालीन निबन्धकारों ने एक स्वर से माना है। मित्रमिश्र ने भी याज्ञवल्क्य व्याख्या में मिताक्षरा पक्ष को विचारणीय कहा है, किन्तु व्यवहार प्रकाश में मिताक्षरा पक्ष को समर्थन करने का प्रयास किया है। जिसे हम पहले कह आये हैं, स्मृति चन्द्रिकाकार देवणभट्ट ने मिताक्षरा पर टिप्पणी की है कि जैसे 'सारस्वतौ भवतः' में स्त्री दैवत्य याग पहला है या पुंदैवत्य पहला है यह सन्देह होने पर द्वन्द्वसमास से पौर्वापर्य का निर्णय नहीं होता, याज्यानुवाक्यामन्त्रकाण्ड में पहिले स्त्री दैवत्य मन्त्र का पाठ फिर पुंदैवत्य मन्त्र का पाठ है। यहाँ याज्यानुवाक्या मन्त्रपाठ होने के कारण ठीक है वैसे पितरौ में कोई नियामक नहीं है, खोजना चाहिये। कह कर मिताक्षरा का खण्डन किया है।

मिताक्षरा और दायभाग में मौलिक भेदस्थलों का दिग्दर्शन

मिताक्षरा	दाय भाग
१. दाय दो प्रकार का होता है	१. जीमूतवाहन को यह मान्य नहीं है।

सप्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध प्रायः सभी निबन्धकारों ने यही माना है।	
२. विभाग के तीन काल हैं।	२. विभाग के दो काल हैं।
३. "भूर्या पितामहोपात्ता" इस श्लोक की व्याख्या मिताक्षरा में भिन्न प्रकार से हैं।	३. दाय भाग में दूसरे प्रकार से व्याख्या है।
४. अविभक्त संसृष्ट के धन में भाई का अधिकार है विभक्त संसृष्ट के धर्म में पत्नी का अधिकार है।	४. सबके रहते हुए पत्नी का ही अधिकार प्रथम है।
५. दुहिता या दौहित्र के अभाव में पहिले माता का अधिकार होता है उसके बाद पिता का	५. दौहित्र के अभाव में पहिले पिता का अधिकार है तब माता का इस बन्धन में देवण भट्ट नीलकंठ आदि निबन्धकारों ने भी मिताक्षरा का खंडन किया है।

"माता च पिता च पितरौ" इस विग्रह वाक्य से माता का निर्देश प्रथम है। 'अतः अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकरः' इस न्याय से माता का प्रथम निर्देश होने से मिताक्षरा कार का समर्थन हो सकता है।

जीमूत वाहन द्वारा स्वीकृत मानों एवं पाठान्तरों का दिग्दर्शन

१. विश्वरूपोक्तमादरणीयम् ४–५–१३
२. विश्वरूपोक्तमेवादरणीयम् ५–११–१२
३. तदुक्तं विश्वरूपेणाऽपि १३–११
४. विश्वरूपादिभिर्दुहित्रभावे दौहित्रस्याधिकारो निरूपितः आदरणीयः ११-२-२९
५. जितेन्द्रियेणापि बहुप्रकारं विमृश्योक्तम्।
६. अपुत्रस्य भर्तुः कृत्स्नधने पत्न्यधिकारो जितेन्द्रियोक्त आदरणीयः ११–४५
७. जितेन्द्रियेण लिखितम् ११–५–१४
८. अतएव प्रायश्चित्तकाण्डे जितेन्द्रियेण भणितम् १३–१२
९. इदञ्च बालकेनाकुलीकृत्य पठितम् ५–२
१०. बालकेनाप्युक्तम् ६–५३
११. यच्चचोक्तं बालकेन शंखादिवचनमिति ११–५१

१२. यत्तु बालकवचनम् ११–२–२७

१३. अतो यत् बालकवचनम् यथा मुद्गापचारे १३–१६
पाठ भेद दिया जाता है, जिसको जीमूतवाहन ने माना है।

१४. निवृत्तो वापि मरणादिति पाठः, तदा मरणान्निवृत्तो जीवति निस्पृह इति पाठान्तरमनाकरम् , पृ० ५

१५. भ्रातृणां पूर्वसंस्कृते रिति पाठस्यानाकरत्वात् २४

१६. ज्ञातृभिरिति पाठोऽनाकरः १४–१ पृ०
मित्रमिश्र ने व्यवहार प्रकाश में मिताक्षरा सम्मत पाठ का समर्थन किया है।

ग्रन्थ का प्रकाशन

यह ग्रन्थ १८६३ में निम्नांकित छः विद्वानों की टीकाओं के साथ वङ्गाक्षर में प्रकाशित हुआ है। (१) श्री श्रीनाथाचार्य चूड़ामणि, (२) श्री रामभद्र न्यायालंकार, (३) श्रीमदच्युतानन्द चक्रवर्ती, (४) श्री महेश्वर भट्टाचार्य, (५) श्री रघुनन्दन भट्टाचार्य, (६) श्री श्रीकृष्ण तर्कालंकार।

उसमें कुछ लोग अपने-अपने सिद्धान्त का पुष्ट करते हैं, जैसे मदनरत्नकार विभाग का काल चार बताते हैं, उनमें विज्ञानेश्वर के परमभक्त तथा मिताक्षरा के प्रत्येक शब्दों के समथर्न करने वाले श्रीमित्रमिश्र का प्रयास अत्यन्त स्तुत्य है। 'जीमूतवाहनेन दायभागकृता' इत्यादि शब्दों से नाम लेकर खण्डन किया है। कई स्थलों (प्रकृत ग्रन्थ) में बड़े आदर के साथ नाम भी लिया है।

कोलब्रुक के संस्करण की विशेषता

इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण १८८० में कोलब्रुक ने सम्पादन किया था, जो मिर्जापुर मण्डल के कलक्टर थे। कोलब्रुक ने समझने की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय में प्रत्येक विषय पर कुछ संख्या लगायी है, उसको तीसरे संस्करण में माना है, प्रस्तुत संस्करण में हमने भी माना है।

तीसरा संस्करण १८९३ में श्री श्रीकृष्ण तर्कालंकार विरचित टीका के साथ प्रकाशित हुआ, जो इस समय दुर्लभ है।

जीमूतवाहन का काल ई० ११००–११५०

महामहोपाध्याय पी० वी० काणे महोदय ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' के प्रथम भाग में कहा है कि जीमूत वाहन (१) दायभाग (२) कालविवेक (३) व्यवहारमातृकाके लेखक हैं। इन का समय ११०० से ११५० ई० तक दिया गया है। जब तक कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता तब तक उसे मैं भी मानता हूँ।

मुद्रण का प्रयोजन

यह प्रकरण ग्रन्थ धर्मशास्त्र आचार्य प्रथम वर्ष में पढ़ाया जाता है। यह पुस्तककई वर्षों से नहीं मिलती है, अतः छात्रों के उपकार के लिये मैंने इसका सम्पादन तथा प्रकाशन किया है। मैंने एक टिप्पणी भी छात्रों के उपकार की दृष्टि से दी है। एक भूमिका हिन्दी में और दिया है, डा० आनन्द जी, ला कालिज के डीन का आमुख भी ग्रन्थ के आरम्भ में है।

इस संस्करण का सम्पादन ३ आदर्श पुस्तकों की सहायता से किया है। (१) मेरी पुस्तक जिसका संशोधन मैंने अपने अध्ययन काल में किया था। (२) सरस्वती भवन वा० सं० वि० वि० की जो प्रायः शुद्ध है। (३) जो वङ्गाक्षरों में रहा है कई संदिग्ध स्थलों में सहायक ही है। इन साधनों से सम्पादन किया है। यह सब काम मेरे परमाराध्य स्वर्गीय महामहोपाध्याय चिन्नस्वामी शास्त्री जी के आशीर्वाद तथा अनुकम्पा का फल है। श्रीकर, जितेन्द्रिय, बालक आदि के निबन्ध उपलब्धहोने पर अग्रिम संस्करण में अधिक परिष्कार संभव है।

ए० एस० शास्त्री, मीमांसावेदान्ताचार्यः
अध्यक्षः—धर्मशास्त्र-मीमांसा विभाग
प्राच्यविद्या तथा धर्म संकाय
का०हि०वि०वि०, वाराणसी–५

पारिभद्रीय-महामहोपाध्याय-जीमूतवाहनकृत-
धर्मरत्नान्तर्गतः टिप्पणीसहितः

दायभागः

अथ प्रथमोऽध्यायः

मन्वादिवाक्यान्यविमृश्य येषाम्
यस्मिन् विवादो बहुधा बुधानाम् ।
तेषां प्रबोधाय स दायभागः
निरूपणीयः[१] सुधियः शृणुध्वम् ॥ १ ॥

अथ दायभागो निरूप्यते । तत्र नारदः—

विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते ।
दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः ॥ २ ॥

पितृत आगतं-पित्र्यम्, तच्च पितृमरणोपजातस्वत्वमुच्यते । पित्र्यस्येति पुत्रैरिति च द्वयमपि सम्बन्धिमात्रोपलक्षणम्, सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्र धनविभागेऽपि दायभागपदप्रयोगात् । अत एव दायभागं विवादपदमुपक्रम्य नारदोऽपि मात्रादिधनविभागमप्युपदर्शितवान् । तथा मनुरपि पित्रादिपदमदत्त्वैव,—

'एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत' ॥

काण्डद्वयोपपाद्याय कर्मब्रह्मस्वरूपिणे ।
स्वर्गापवर्गरूपाय यज्ञेशाय नमो नमः ॥
जीमूतवाहनकृते दायभागे वितन्यते ।
सुब्रह्मण्येन विदुषा टिप्पणी प्रमिताक्षरा ॥

१ नानाविवादहरणेन दायतत्त्वनिर्णयोऽस्य प्रकरणस्य प्रयोजनमिति ॥

विषयसूची

विषय सूची समाप्त

—:o:—

पारिभद्रीय-महामहोपाध्याय-जीमूतवाहनकृत-
धर्मरत्नान्तर्गतः टिप्पणीसहितः

दायभागः

अथ प्रथमोऽध्यायः

मन्वादिवाक्यान्यविमृश्य येषाम्
यस्मिन् विवादो बहुधा बुधानाम् ।
तेषां प्रबोधाय स दायभागः
निरूपणीयः[१] सुधियः शृणुध्वम् ॥ १ ॥

अथ दायभागो निरूप्यते । तत्र नारदः—

विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते ।
दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः ॥ २ ॥

पितृत आगतं-पित्र्यम्, तच्च पितृमरणोपजातस्वत्वमुच्यते । पित्र्यस्येति पुत्रैरिति च द्वयमपि सम्बन्धिमात्रोपलक्षणम्, सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्र धनविभागेऽपि दायभागपदप्रयोगात् । अत एव दायभागं विवादपदमुपक्रम्य नारदोऽपि मात्रादिधनविभागमप्युपदर्शितवान् । तथा मनुरपि पित्रादिपदमदत्त्वैव,—

'एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत' ॥

काण्डद्वयोपपाद्याय कर्मब्रह्मस्वरूपिणे ।
स्वर्गापवर्गरूपाय यज्ञेशाय नमो नमः ॥
जीमूतवाहनकृते दायभागे वितन्यते ।
सुब्रह्मण्येन विदुषा टिप्पणी प्रमिताक्षरा ॥

१ नानाविवादहरणेन दायतत्त्वनिर्णयोऽस्य प्रकरणस्य प्रयोजनमिति ॥

इत्युपक्रम्य यावत्सम्बन्धिधनविभागमुक्तवान् ॥३॥ [1]दीयत इति व्युत्पत्त्या दायशब्दः, ददातिप्रयोगश्च गौणः, मृतप्रव्रजितादिस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात्, न तु मृतादीनां तत्र त्यागोऽस्ति ॥४॥ ततश्च पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीनं तत्स्वाम्युपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वम्, तत्र निरूढो दायशब्दः ॥५॥

ननु किं दायस्य विभागः विभक्तावयवत्वम्, यद्वा दायेन सह विभागात् संयुक्तत्वम्? न तावत् पूर्वः, दायविनाशापत्तेः। नापि द्वितीयः, संयुक्तेऽपि न ममेदं विभक्तं स्वम्, भ्रातुरिदमिति प्रयोगात् ॥ ६॥ न च सम्बन्धाविशेषात् सर्वेषां सर्वधनोत्पन्नस्य स्वत्वस्य द्रव्यविशेषे व्यवस्थापनं विभाग इति वाच्यम्। सम्बन्ध्यन्तरसद्भावप्रतिपन्नस्य सम्बन्धस्यावयवेष्वेव विभागव्यङ्ग्यस्वत्वापादकत्वात्, कृत्स्नपितृधनगतस्वत्वोत्पाद-विनाशकल्पनागौरवात्, यथेष्टविनियोगफलाभावेनानुपयोगाच्च ॥ ७ ॥

उच्यते—एकदेशोपात्तस्यैव भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य स्वत्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतया अव्यवस्थितस्य गुटिकापातादिना व्यञ्जनम्—विभागः ॥८॥ [2]विशेषेण भजनम्, [3]स्वत्वज्ञापनं वा विभागः ॥९॥ यत्रापि चैकं दासीगवादिकं बहुसाधारणम्, तत्रापि तत्तत्कालविशेषवहनदोहनफलेन स्वत्वं व्यज्यते।

तदाह बृहस्पतिः—

एकां स्त्रीं कारयेत् कर्म यथांशेन गृहे गृहे।
उद्धृत्य कूपवाप्यम्भस्त्वनुसारेण गृह्यते ॥
युक्त्या विभजनीयं तदन्यथानर्थकं भवेत् ॥ इति ॥
[4]इदं श्लोकार्द्धत्रयं नानास्थानस्थम्, न तु क्रमिकम् ॥ १० ॥

ननु पितर्यूर्द्ध्वं गते पुत्रा विभजेयुर्द्धनं पितुरिति नारदवचनात् पितुर्धनम् विभजेयुरित्यन्वयात्, विभागात् पूर्वं न तत्र पुत्राणां स्वत्वम्, न च विभागस्य स्वत्वकारणता, असम्बन्धिधनेऽप्यतिप्रसङ्गात् ॥ ११ ॥

---

१. विभागोऽर्थस्येत्यादिनारदवाक्येन संबन्धिधनविभागो दायभाग इति प्रतीयते, तत्र दीयत इति दाय इति भावव्युत्पत्त्या, कर्मव्युत्पत्त्या च सिद्ध्यति, तत्राद्यपक्षे क्रियापरपर्यायो त्यागरूपधात्वर्थ एव प्रतीयेत, नतु धनम्। दीयते यत्, स दाय इति कर्मव्युत्पत्तिस्वीकारे धात्वर्थकर्मैव लभ्येत, प्रकृते मृत-प्रव्रजितानां त्यागासंभवेन दायशब्दो ददातिधातुप्रयोगश्च गौण इति ध्येयम्। शक्यस्य सादृश्याख्यसम्बन्धः गुणः, तद्योगाद्गौण इति बोध्यम्। २. विभागशब्दार्थमाह—विशेषेण भजनमित्यादिना। ३. स्वाभिमतं दायभागशब्दार्थमाह। ४. विवक्षितार्थप्रतिपादनायाह-इदमित्यादिना।

उच्यते--पित्रादिनिधनानन्तरमेवास्मदीयं धनमिति प्रयोगात्, एकपुत्रे च विभागं विनैव स्वत्वस्वीकाराच्च। सम्बन्धिनिधनमेव स्वत्वकारणम्, अतः नातिप्रसङ्गः ॥ १२ ॥

नन्वर्जयितृव्यापारोऽर्जनम्, अर्जनाधीनस्वामिभावश्चार्जयिता, तेन पुत्र-व्यापारो जन्मैवार्जनं युक्तम्, अतो जीवत्येव पितरि पुत्राणां तत्र स्वत्वम्, न तु तन्निधनात्। अत एवोक्तं 'क्वचिज्जन्मैव यथा पित्र्ये धने' ॥ १३ ॥

नैतत्, मन्वादिविरोधात्। यथा--

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ मनु-९-१०३ ॥१४॥

जीवतोरपि पित्रोः पुत्राणां कुतो न विभाग इत्याशङ्कायाम्, इदमुत्तरम्, तदानीमस्वामित्वादिति ॥ १५ ॥ न च भार्या पुत्रश्चेत्यादिवत् अस्वातन्त्र्याभिप्रायमिति वाच्यम्; तदानीं स्वत्वे प्रमाणाभावात्। भार्यादिषु तु 'यत्ते समधिगच्छन्ति-अर्जयन्तीति स्वत्वे सिद्धे, युक्तमस्वातन्त्र्यवर्णनम् ॥ १६ ॥ किञ्च स्वोपात्तेऽपि तेषामस्वामित्वे स्वधनसाध्यवैदिककर्मोच्छेदात् श्रुति-विरोधः स्यात् ॥ १७ ॥

देवलश्च पितृधने अस्वाम्यमेव स्पष्टयति --

तथा पितर्य्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः।
अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते ॥ १८ ॥

किञ्च जीवत्यपि पितरि पितृधने पुत्राणां स्वामित्वे पितुरनिच्छयापि विभागः स्यात्, जन्मनैव स्वत्वमित्यत्र प्रमाणाभावाच्च। अर्जनरूपतया जन्मनः स्मृतावनधिगमात् ॥ १९ ॥ 'क्वचिज्जन्मैवेति च जन्मनिबन्धनत्वात् पितापुत्रसम्बन्धस्य, पितृमरणस्य च स्वत्वकारणत्वात् परम्परया वर्णनम् ॥ २० ॥ अन्यव्यापारेणान्यस्य स्वत्वमविरुद्धं शास्त्रमूलत्वादस्य। दृष्टञ्च लोकेऽपि दाने हि चेतनोद्देशविशिष्टत्यागादेव दातृव्यापारात् सम्प्र-दानस्य द्रव्ये स्वामित्वम् ॥ २१ ॥

न च स्वीकरणात् स्वत्वम्, स्वीकर्तुरेव दातृत्वापत्तेः। परस्वत्वापत्तिफलेन हि दानरूपता, तच्च फलं सम्प्रदानाधीनम्, यथा-देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागम् कुर्वन्नपि यजमानो न होता, किन्तु तस्यैव त्यागस्य होमाभिधाननिमित्तं

१ जन्मैवेत्यस्य परंपरया वर्णनमिति व्यवहितेनान्वयो बोध्यः।

प्रक्षेपं कुर्वन् ऋत्विगेव होतेत्युच्यते, तद्वदत्रापि स्यात् । किञ्च [1]'मनसा पात्रमुद्दिश्येत्यादिशास्त्रे स्वीकारात् प्रागेव दानपदं दृष्टम् ।। २२ ।।

ननु ग्रहणम् – स्वीकारः, अभूततद्भावे च्विप्रयोगात् । अस्वं स्वं कुर्वन् व्यापारः स्वीकारो भवति, कथं तत् प्रागेव स्वत्वम् ।। २३ ।।

उच्यते–उत्पन्नमपि स्वत्वं सम्प्रदानव्यापारेण ममेदमिति ज्ञानेन यथेष्टव्यवहारार्हं क्रियत इति स्वीकारशब्दार्थः । याजनाध्यापनसाहचर्याच्च प्रतिग्रहस्य स्वत्वमजनयतोऽपि अर्जनरूपता न विरुद्धा, याजनादौ दक्षिणादानादेव [2]'स्वत्वात् ।। २४ ।। पितृनिधनकालीनं वा जीवनमेव पुत्रस्यार्जनम् भविष्यति । किञ्च भ्रात्रादिधने तन्मरणात्, तन्मरणकालीनजीवनाद्वा भ्रात्रन्तरादेः स्वत्वमकामेनापि वाच्यम् ।। २५ ।। अतः 'ऊर्ध्वं पितुश्चे'त्यादि (मनु ९,१०४) तत्कालीनस्वत्वज्ञापनार्थं तदानीमेव चेच्छाप्राप्तं विभागमनुवदति, प्राप्तत्वात् विधानानुपपत्तेः ।। २६ ।। न च नियमः सम्भवति ।

'एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया' । इति

मनुविरोधात् । दृष्टार्थत्वाच्च विभागस्य न तन्नियमः, कालनियमो वा सम्भवति ।।२७।। किञ्च पितर्युपरते' इत्यनन्तरकाल एव विभागः स्यात्, न तु परस्तादपि जातेष्टिवत् जातप्राणवियोगापत्तिसमानस्यात्र विरोधस्याभावात्, पित्रुपरमानन्तरस्य च यावज्जीवपर्यन्तस्य स्वेच्छात एव प्राप्तत्वात् ।।२८।। अतो जीवति पितरि, सत्यपि पुत्राणां स्वाम्ये, विभागनिषेधार्थं मनुवचनम् वाच्यम्, तच्चान्याय्यम् ; अस्वार्थपरत्वापत्तेः ।।२९।। अतो जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति, किन्तूपरतयोरिति ज्ञापनार्थं मन्वादिवचनम् । एकः शाब्दः, अपरश्चार्थः ।। ३० ।। न चोपरममात्रमेव विवक्षितम्, किन्तु पतित-प्रव्रजितत्वाद्युपलक्षयति, स्वत्वविनाशहेतुतासाम्यात् ।।३१।।

तदाह नारदः—

'मातुर्निवृत्ते रजसि दत्तासु भगिनीषु च ।
विनष्टे वाप्यशरणे पितर्युपरतस्पृहे' ।।३२।। (ना० स्मृ० १३-३-३०)

विनष्टे-पतिते, अशरणे-गृहस्थाश्रमरहिते । यदा निवृत्ते नापि मरणादिति

---

१. मनसा पात्रमुद्दिश्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् ।
दाता तत्फलमाप्नोति प्रतिग्राही न दोषभाक् ।। ना० स्मृ०, १-२ ।

२. च इति मु० पु० पाठः ।

पाठः, तदा रमणान्निवृत्तो जीवति 'निस्पृह इति पाठान्तरमनाकरम् ।। ३३।। अत्राप्युपरतस्पृहत्वादिना पुत्राणां स्वत्वं पितृधने भवतीति ज्ञापनादयमेकः कालो विभागस्येच्छाप्राप्तोऽनूद्यते । प्राप्त्यनुसारित्वाच्चानुवादस्य, स्वामित्वाच्च प्राप्तेः ।।३४।। एकस्यापि स्वधने स्वाम्यादेकेच्छयापि विभागप्राप्तेः 'समेत्ये'ति (मनु ६-१०४) सहितत्वं पक्षप्राप्तमनूद्यते । अन्यथा साहित्यवत् बहुत्वस्याप्यवगतेः द्वयोर्विभागो न स्यादेव, द्वयोर्विभागप्रतिपादकशास्त्राभावात् ।।३५।।

ननूपरते पितरि ज्येष्ठ एव धनाधिकारी, नेतरे । यथा–

'ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ।।' मनु० ६-१०५

ज्येष्ठोऽत्र पुन्नामनरकव्यावर्तकोऽभिप्रेतः, न तु जीवदपेक्षः । यथा मनुः—

'ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति' ।।
'यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः' ।।३६।। मनु-६-१०६-१०७

नैतत् । सर्वेच्छाधीनज्येष्ठाधिकारश्रुतेः । यथा नारदः–

'बिभृयाद्वेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता ।
भ्राता शक्तः कनिष्ठो वा शक्त्यपेक्षा कुले स्थितिः' ।।ना०स्मृ० १३-५

सर्वेच्छया कनिष्ठोऽपि शक्तः सन् बिभृयादिति ।। ज्येष्ठता चातन्त्रम् । यथा मनुः—

'एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ।।' मनु-६-१११

सह पृथग्वेति पदाभ्याम्, काम्ययेति चेच्छाया विकल्पकत्वं दर्शयति ।।३७। तदेवं पितृस्वत्वापगम एकः कालः, अपरश्चानपगत एव पितुः स्वाम्ये पितुरिच्छयेति कालद्वयम् ।। ३८ ।। न पुनः पितर्य्युपरत इत्येकः कालः, पितर्य्युपरतस्पृहे मातुश्च निवृत्ते रजसीत्यपरः, अनिवृत्तेऽपि मातृरजसि पितरि सस्पृहे तदिच्छयेति कालत्रयमादरणीयम्, मातृरजोनिवृत्तेः पित्रुपरतस्पृहत्वविशेषणत्वे ।

'त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ।।' मनु-६-६४

१ प्रकाशादौ घृतमिति शेषः, बहुषु ग्रन्थेष्वदर्शनादिति बोध्यम् ।

इति मनुना विवाहकालविधानात् 'वनं पञ्चाशतो व्रजेद्' इत्याश्रमान्तरगमनकालविधानात् । तदा च रजोनिवृत्तेर्मातुरसम्भवे पितरि चोपरतस्पृहे वानप्रस्थे तत् पुत्राणामिच्छतामप्यविभागप्रसङ्गात् ॥ ३९ ॥ निर्विशेषणमुपरतस्पृहत्वमेव पितृधनविभागकाल इति चेत्, न, अनुपरतस्पृहे पितरि पतितेऽप्यविभागप्रसङ्गात् ॥ ४० ॥ अयमप्यपरः कालः इत्यभिधाने कालचतुष्टयापत्तिः—पितुरुपरमः, पतितत्वम्, निस्पृहत्वम्, इच्छा चेति ॥ ४१ ॥ यच्च कार्य्याक्षमे पितरि पुत्राणां विभागे स्वातन्त्र्यमुक्तम्, तत् वचनानभिज्ञत्वेन । तथा च हारीतः—'जीवति पितरि पुत्राणामर्थादानविसर्गाक्षेपेषु न स्वातन्त्र्यम्, कामं दीने, प्रोषिते, आर्त्ति गते वा ज्येष्ठोऽर्थांश्चिन्तयेत् । सुव्यक्तमाहतुः शङ्खलिखितौ 'पितर्यशक्ते व्यवहारान् ज्येष्ठः प्रतिकुर्यात्, अनन्तरो वा कार्यज्ञस्तदनुमतः, न त्वकामे पितरि रिक्थविभागः । वृद्धे, विपरीतचेतसि, दीर्घरोगिणि वा ज्येष्ठ एव पितृवदर्थान् पालयेदितरेषां ऋक्थमूलं हि कुटुम्बम्, अस्वतन्त्राः पितृमन्तो मातुरप्येवमवस्थितायाः' इति ॥ ४२ ॥ एतद्वचनद्वयं कार्य्याक्षमे दीर्घरोगिणि च पितरि विभागं निषिध्य, ज्येष्ठ एव गृहं चिन्तयेत्, तदनुजो वा कार्यज्ञ इत्याह[1] । अतः न त्वकामे पितरीत्येतदेव कार्य्याक्षमे पितरि रिक्थविभाग इति [2]भ्रान्तलिखितम् ॥ ४३ ॥ तस्मात् पतितत्वनिस्पृहत्वोपरमैः स्वत्वापगम इत्येकः कालः, अपरश्च सति स्वत्वे तदिच्छात इति कालद्वयमेव युक्तम् ॥ ४४ ॥

'मातुर्निवृत्ते रजसि' ना० १३-३ इति तु पितामहादिधनाभिप्रायम्, निवृत्ते रजसि पुत्रान्तरसम्भावनाभावात् । तदानीमपि पितुरिच्छयैव पुत्राणाम् विभागः, अनिवृत्ते रजसि क्रमागतधनविभागे पश्चाज्जातानां वृत्तिलोपापत्तेः ॥ ४५ ॥ न चासौ युक्तः,

'ये जाता येऽप्यजाता वा ये च गर्भे व्यवस्थिताः ।
वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति वृत्तिलोपो विगर्हितः' ॥

इति मनुवचनात् ॥ ४५ ॥ यत एव पितृधने कालद्वयम्, अत एव मनुगौतमादिभिर्मृतपदं परित्यज्य ऊर्ध्वमित्युक्तम् । 'ऊर्ध्वं पितुरि'ति (मनु० ९-१०४ गौ० २-२१) पितुस्तदा स्वत्वापगमात् तदर्थमेवोर्द्ध्वमित्युक्तम् । अतोऽयमेको विभागकालः, 'ऊर्द्ध्वं विभागाज्जातस्त्वि' त्यनेन मनु० ९-१९०,

---

१ हारीत आहेति शेषः ।

२ कार्याक्षमे पितरि रिक्थविभाग इति यल्लिखितम्, तत् भ्रान्तलिखितमित्यर्थो बोध्यः ।

ना० १३-४३, च सस्पृहे पितरि तदिच्छया विभागकालोऽपरो दर्शितः ।।४६।। 'दत्तासु भगिनीषु चे' ति (नारद १३-३) न कालार्थम्, किन्तु तासामवश्यम् दानार्थम् ।

तथा—

'यच्छिष्टं पितृदायेभ्यो दत्त्वर्णं पैतृकं ततः ।
भ्रातृभिस्तद्विभक्तव्यमृणी न स्याद्यथा पिता ।।' ना० १३-३

इदं नारदवचनं पित्रर्णशोधनावश्यंभावार्थम्, न विभागकालार्थम् ।।४७।। अस्माच्च नारदवचनादयमर्थः सिद्ध्यति—तद्विभागकर्तृभिरुत्तमर्णानुमत्यैव पित्रादिऋणं विभजनीयम्, परिशोध्यं वा—शोधनावशिष्टधनविभागप्रतिपादनस्यैतत्प्रयोजनत्वात् । अत एव मातृधनस्यापि ऋणावशिष्टस्य विभागमाह याज्ञवल्क्यः—

'मातृदुंहितरः शेषमृणात् ताभ्य ऋतेऽन्वयः' । याज्ञ० व्य० २-११८ । एतच्च विस्तरेण ऋणादाने वक्ष्यते ।। ४८ ।।

यद्वा[1] दत्तासु भगिनीषु मातृधनं पुत्रैरेव विभजनीयम्, अदत्तासु ताभिः सह साधारणम्, एतच्चावसरे[2] वाच्यम् ।।४९।। एवं तावत् पितृधनविभागस्य कालद्वयमप्युक्तम् ।।५०।।

इति पारिभद्रीय - महामहोपाध्याय—जीमूतवाहनकृते
धर्मरत्नान्तर्गते दायभागे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

---

१. पक्षान्तरमाह—यद्वेत्यादिना ।

२. अवसरे—स्त्रीधनविभागप्रकरणे ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सम्प्रति पितामहधनविभागकालोऽभिधीयते । तत्र बृहस्पतिः—

'पित्रोरभावे भ्रातॄणां विभागः सम्प्रदर्शितः ।
मातुर्निवृत्ते रजसि जीवतोरपि शस्यते' ॥ १ ॥

नास्य वचनस्य पितृधनगोचरत्वम्, 'ऊर्द्ध्वं विभागाज्जातस्त्वि'त्यस्य मनु० ६-२१६, ना० १३।४४ निर्विषयत्वापत्तेः । निवृत्ते रजसि पुत्रोत्पत्तेरभावात् । मातृधनविषयत्वञ्चास्य नाशङ्कनीयम् । मातुरेव निर्धनत्वापत्तेः, अतो निवृत्ते रजसीति पितामहादिधनविषयम् ॥२॥ न चेच्छामनपेक्ष्य रजोनिवृत्तेर्विभागनिमित्तत्वं सम्भवति 'अनिच्छया विभागाभावात् ॥३॥ सत्यामिच्छायां कस्येच्छयेत्यपेक्षायाम्, ऊर्द्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं विभजेयुः निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति चेच्छात इति २२-१-२ गोतमवचनात् पितुरेवेच्छातः इति निर्णीयते ॥४॥ अतः पित्रोरभाव इत्येकः कालः । पित्रोरिति द्विवचननिर्देशात् सोदरभ्रातॄणां पितृधनविभागोऽपि मातुरभाव एव कार्य्यः ॥५॥ न तु मातृधनविभागार्थं[1] मातुरभावस्योपादानम्, जीवतोरपीत्यस्य मातृधनगोचरत्वानुपपत्तेः अन्यधनगोचरत्वमवश्यं वाच्यम् तेन तत्रैव विभागे पित्रोरभावो निमित्तम्, तत्रैव जीवतोरपीत्यपिशब्देन जीवनस्यापि शस्तत्वकीर्त्तनात्, न मातुरभावो मातृधने व्याख्येयः, एतच्च विस्तरेण वाच्यम् ॥६॥ तस्मात् पितामहादिधनस्यापि पित्रोरभाव इत्येको विभागकालः । तथा मातुर्निवृत्ते रजसि पितुरिच्छात इत्यपरः ॥ ७ ॥ न तु पितुरिच्छामन्तरेण तस्य विभागः, 'अनीशास्ते हि जीवतोः' । मनु ६-१०४ ।

तथा—

'अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते ।' नारद-देवलौ ॥७॥

तथा 'जीवति चेच्छती गो० २८-२ ति' तथा 'पितुरनुमत्यादायविभागः' (बोधायनः) तथा 'जीवति पितरि रिक्थविभागोऽनुमतेः' शङ्खलिखितौ । तदेवमादिमनु-नारद-गोतम-बोधायन-शङ्ख-लिखितादिभिरविशेषेण जीवति पितरि पुत्राणां यावद्धनगोचरास्वामित्वस्य पितुरिच्छाधीन-

१. मातृधनविभागावसरे इति शेषः ।

विभागस्य च प्रतिपादनात्, पैतामहधनविभागकालस्य च पृथगेभिरनभिधानात् पैतमाहधनगोचरत्वमप्यनीशत्वपित्रनुमतिवचनानाम् ।।८।।

यत्तु **याज्ञवल्क्यवचनम्**—

'भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा ।
तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः' ।। याज्ञ० २,१२२

तस्य निरवद्यविद्योद्योतेन द्योतितःतत्त्वतोऽयमर्थः—यत्र द्वयोर्भ्रात्रोर्जीवत्पितृकयोरप्राप्तभागयोरेकः पुत्रमुत्पाद्य विनष्टः, अन्यो जीवति, अनन्तरं पिता मृतः, तत्र पुत्र एव तद्धनं प्राप्नोत्वतिसन्निकर्षात्, तदर्थं 'सदृशम् स्वाम्यमि' ति वचनम् । यथा पैतामहधने पितुः स्वाम्यम्, तथैव तस्मिन्मृते तत् पुत्राणामपि, न तत्र सन्निकर्ष-विप्रकर्षाभ्यां कोऽपि विशेषः । पार्वणविधिना पिण्डदानेन द्वयोरपि तदुपकारकत्वाविशेषादित्यभिप्रायः ॥६।। अतः एव मृतपितृ-पितामहकः प्रपौत्रोऽपि पुत्र-पौत्राभ्यां सह तुल्याधिकारी भवति, पिण्डदत्वाविशेषात् ।।१०।। जीवति तु पितरि पुत्राणां पितामहधनस्वामित्वे सपुत्रापुत्रभ्रातृद्वयविभागे तत्पुत्राणामपि भागः स्यात्, स्वामित्वाविशेषात् ।।११।। तथा चाप्रक्रान्तत्वेनातदर्थत्वं वचनस्य,[1] अनेकपितृकाणामेव प्रक्रमात् ।। १२ ।। निबन्धः–कार्तिक्यां कार्तिक्यामिदं दास्यामीति यन्निबद्धम् ।। १३ ।। द्रव्यं भूसाहचर्यात्[2] द्विपदमभिहितम् ।। १४ ।।

अयं वा धारेश्वरपुरस्कृतो वचनार्थः । इच्छया विभागदानप्रवृत्तस्य पितुः पैतामहधने सदृशं स्वाम्यं पुत्रैः सह, न तत्र स्वोपार्जितधन इव न्यूनाधिकविभागमिच्छातः कर्तुमर्हतीति ।। १५ ।। यथा विष्णुः 'पिता चेत् पुत्रान् विभजेत्तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थे, पैतामहे तु पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वम्' ।१६। (१७-१-२) इदं सुव्यक्तं यदि पिता पुत्रान् विभजति, तदा स्वोपात्तेऽर्थे न्यूनाधिकविभागम् स्वेच्छया पुत्रेभ्यो दद्यात्, पैतामहे तु नैतत्, यस्मात् तत्र तुल्यम् स्वामित्वम्, न पुनः पितुः स्वच्छन्दवृत्तिता ।। १७ ।। अतः पितापुत्रयोः पैतामहधने समविभागार्थं 'सदृशं स्वाम्यमिति वचनम्' पुत्राणां वा विभागस्वातन्त्र्यार्थमिति मतद्वयमपि[3] हेयम् ।। १८ ।। एवमेवापरमपि वचनं

---

१. अनेकपितृकाणाम्–एक पितृकभिन्नानां विभिन्नपितृकाणामित्यर्थः ।

२. 'स्थावरं द्विपदञ्चैव यद्यपि स्वयमर्जितमित्यादि' वक्ष्यमाणे भू-द्विपदयोरेकक्रियान्वयादित्यर्थः ।

३. मिताक्षराकृत्प्रभृतीनां मतद्वयं हेयमित्यर्थः ।

व्याख्येयम् ॥ १९ ॥ अतः पैतामहादिधने पितुर्भागद्वयम्, पितुरिच्छात एव विभागः, न पुत्रेच्छयेति सिद्धम् ॥ २० ॥

यच्च मनुविष्णू--

'पैतृकन्तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत् सार्द्धमकामः स्वयमर्जितम्' मनु० ९-२०९ ॥

स्वार्जितत्वेन हेतुना नाकामो विभजेदिति वदन्तौ स्वयमनर्जिते पैतामहधने पितुरनिच्छयापि पुत्राणां विभागं दर्शयतः । तत्रापि विभागदानप्रवृत्तः पिता पितामहधनं स्वार्जितं नाकामो विभजेत्, अन्यत् पुनरकामोऽपि विभजेदित्यस्वेच्छात एवेत्यर्थः, न पुनः पुत्रेच्छया विभागं ज्ञापयतः ॥२१॥ मणिमुक्तादौ तु पुनः पैतामहे पित्रनर्जितेऽपि स्वार्जित इव पितुरेव **स्वाम्यं न्यूनाधिकविभागदानार्हत्वम्** । तथा **याज्ञवल्क्यः**--

'मणि-मुक्ता-प्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः ।
स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः' या० स्मृ०-२२ ॥

पितामहश्रुतेस्तद्धनविषयकं वचनम्, मणिमुक्ताद्युपादाय, पुनः सर्वस्येत्युपादानात् । सर्वेषां भूम्यादिव्यतिरिक्तानां दानादिषु पितुः प्रभुत्वम्, न स्थावरनिवन्धद्रव्याणाम्, तत्रापि सर्वस्येत्युपादानात् । सर्वस्य कुटुम्ववर्तनहेतोर्दानादिनिषेधः, कुटुम्वस्यावश्यं भरणीयत्वात् ॥२२॥

'भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम् ।
नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत्' ॥ २३ ॥

अल्पस्य तु कुटुम्बवर्तनाविरोधिनो न दानादिनिषेधः सर्वस्येत्यानर्थक्यापत्तेः ॥२४॥ स्थावरग्रहणात् निबन्ध-द्विपदयोर्दण्डापूपन्यायात् दानादिनिषेधसिद्धिः ॥२५॥ यदि पुनः सर्वस्थावरादिविक्रयमन्तरेण कुटुम्बवर्तनमेव न भवति, तदा सर्वस्यापि विक्रयणादिकमर्थात् सिद्धचति 'सर्वत एवात्मानं गोपायीत' (गो०ध०सू०-९-३५) इति वचनात् ॥२६॥

तथा--

'स्थावरस्य समस्तस्य गोत्रसाधारणस्य च ।
नैकः कुर्य्यात् क्रयं दानं परस्परमतं विना ॥
विभक्ता अविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः ।
एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रये' ॥

एतद्वयासवचनद्वयेन एकस्य विक्रयाद्यनधिकार इति वाच्यम् ; यथेष्ट-

वियोगार्हत्वलक्षणस्य स्वत्वस्य द्रव्यान्तर इवात्राप्यविशेषात् ॥२७॥ व्यासवचनन्तु स्वामित्वेन दुर्वृत्तपुरुषगोचरविक्रयदानादिना कुटुम्बविरोधात् अधर्मभागिताज्ञापनार्थं निषेधरूपम् । न तु विक्रयाद्यनिष्पत्त्यर्थम् ॥२८॥

एवञ्च—

'स्थावरं द्विपदञ्चैव यद्यपि स्वयमर्जितम् ।
असम्भूय सुतान् सर्वान् न दानं न च विक्रयः' ॥

इत्येवमादिकम्, तदप्येवमेव वर्णनीयम् ॥२९॥ तथाहि कर्तव्यपदमवश्यमत्राध्याहार्य्यम् ॥ तेन दानविक्रयकर्तव्यतानिषेधात् तत्करणात् विध्यतिक्रमो भवति, न तु दानाद्यनिष्पत्तिः । वचनशतेनापि वस्तुनोऽन्यथाकरणाशक्तेः ।३०।

अत एव नारदः—

'यद्येकजाता बहवः पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः ।
पृथक्कर्मगुणोपेता न चेत् कार्येषु सम्मताः ॥
स्वभागान् यदि दद्युस्ते विक्रीणीयुरथापि वा ।
कुर्य्युर्यथेष्टं तत्सर्वमीशास्ते स्वधनस्य वै' ३-४२-४३ ॥३१॥

प्रकृतमनुसरामः-तदेवमुक्तप्रबन्धेन पितामहादिधने पिता-पुत्रयोः समभागविधानानुपपत्तेः, पुत्राणां विभागस्वातन्त्र्यप्रतिपत्तिपरत्वाभावाच्च, जनकेच्छाधीनन्यूनाधिकविभागनिराकरणार्थम्, मृतपितृकस्य भ्रातुः पुत्रस्य पितृव्येण सह तुल्याधिकारार्थं वा वचनम् ॥३२॥ एवञ्च पितामहधनस्यापि पितुरिच्छयैव विभागः कार्य्यः, किन्तु मातुर्निवृत्ते रजसीति विशेषः । स्वोपात्ते तु रजोनिवृत्तिमन्तरेणापि । पितुरूर्ध्वमिति तु उभयत्राप्यविशिष्टम् ॥३३॥ तेन पैतामहधनेऽपि कालद्वयम् ॥३४॥ तत्र यदा पितैवेच्छातः पुत्रान् विभजति, तदा पैतामहधनात् भागद्वयं स्वयं गृह्णीयात् ।

'जीवन्विभागे तु पिता गृह्णीतांशद्वयं स्वयम्' ॥ इति । बृहस्पतिना
'द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता' १३-१२ ॥ इति

नारदेन चाविशेषेण प्रतिपादनात् ॥३५॥

किञ्च इतोऽपि पितामहधनात् पितुर्भागद्वयम् ॥ ३६ ॥

'ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्द्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयन्तु यवीयसः' मनु० ९-११२ ॥

तथा—

'एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्द्धं ततोऽनुजः ।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः' मनु० ६।११६-११७ ॥

एतैर्मनुवचनैः सर्वद्रव्यवरसहितविंश-तदर्ध-तत्तुरीयोद्धारा दर्शिताः । तथा एकांशाधिकार्धांशाधिकचतुर्थभागाधिकभागाः प्रतिपादिताः । गौतमेनापि विंशतिभागो ज्येष्ठस्य 'मिथुनमुभयतोदद्युक्तो रथो गोवृषः मिथुनमजादीनाम्, उभयतोदत्-अश्वादि, तद्-युक्तो रथः; गोयुक्तो वृषः, एतत्सर्वं ज्येष्ठस्य तथा काणखोरकूट-वण्डा मध्यमस्यानेकाश्चेत् (२८-६) खोरः-वृद्धः 'कूटः-वामनाकृतिः, वण्डा-विकृतलाङ्गूलः, एते मध्यमस्य' यदि बहवो भवन्ति पशवः । तथा 'अविद्धान्यायसी गृहम्, अनोयुक्तं चतुष्पदाश्चैकैकं यवीयसः सममितरत् सर्वम् (गौ० २८-७-८) अविप्रभृतयः कनीयसः, अवशिष्टं सर्वं समम्' विभजेरन्निति प्रतिपाद्य; द्व्यंशो वा पूर्वजः स्यात्, एकैकमितरेषामिति (गौ०२८-९-१०) सूत्रेणांशद्वयं ज्येष्ठस्योक्तम् ॥३७॥ न चोपार्जकत्वेन ज्येष्ठस्यांशद्वयमिति वाच्यम्; उद्धारेऽनुद्धृते भागद्वयस्य विधानात् । अर्जकत्वे चोद्धारस्यासम्भवात्, मध्यम-कनीयसोश्चोपार्जकतया ज्येष्ठेनाप्यविशेषात् तयोरध्यर्धादिविधानानुपपत्तेः, ज्येष्ठादिपदानर्थक्याच्च ॥ ३८ ॥ अत एव पुत्रिकौरसयोः पितृधनविभागे मनुरपि—

'पुत्रिकायां कृतायान्तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः' मनु० ९-१३४ ॥

इति स्त्रीत्वेन ज्येष्ठत्वाभावात् समभागतां प्रतिपादयन्, पुरुषस्य भागद्वयं प्रतिपादयति ॥३९॥

यदुक्तं होलाकाधिकरणे प्राच्यकर्तृकहोलाकानुष्ठानोपपत्तये 'होलाका कर्त्तव्ये'ति श्रुतिः कल्पिता, तावतैव तदुपपत्तेः, न तु प्राच्यादिपदवती, कल्पनागौरवात् । तद्वदत्राप्यर्जकोंऽशद्वयं गृह्णीयादिति श्रुतिः कल्पनीया, न पुनः पित्रादिपदवती' इति ।

तदयुक्तम् ; तत्र प्राच्यकर्तृकहोलाकानुष्ठानस्यावश्यंकल्पनीयसामान्यश्रुत्यैवोपपत्तेः, न चाप्राच्यानामननुष्ठानार्थं प्राच्यपदवती कल्प्यतामिति वाच्यम् ; तेषामननुष्ठानस्यानाचाररूपस्य श्रुतिकल्पनानिमित्तत्वानुपपत्तेः । इह तु मन्वादीनां ज्येष्ठपदप्रयोगात् तदुपपत्तये ज्येष्ठपदवत्या एव श्रुतेः कल्पनार्हत्वात् अर्जकपदवत्या एव अवश्यकल्पनीयत्वाभावात्, ज्येष्ठपदवत्या अर्जकपदवत्याश्च कल्पनायां विशेषप्रमाणाभावात् । न चान्यत्रार्जकस्य भागद्वयार्थं श्रुतेरवश्यं कल्पनीयत्वादत्रापि सैव मूलमस्तु, लाघवात् । ज्येष्ठपदश्चार्ज-

कपरमस्त्विति वाच्यम् ; वैपरीत्यस्यापि सम्भवात् । अत्रैव ज्येष्ठपदयुक्त-श्रुतिकल्पनायामर्जकपदस्यापि ज्येष्ठपरत्वकल्पनासम्भवात् विनिगमनाप्रमाणाभावात् । किञ्चैवं लाघवादिना यत्किञ्चित् त्रिचतुरादिपदवतीमेकां श्रुतिमनुमाय, सकलस्मृतिपदानां गौण्या, लक्षणया वा वृत्त्या तत्परत्वमपि वाच्यमित्यतीवात्मनः स्मृतिनिपुणता निरूपिता । तस्माद्यस्मादेवाचारात्, स्मृतिवाक्याद्वा या श्रुतिरवश्यं कल्पनीया, तयैव तद्गतस्याचारांशस्य, स्मृतिपदस्य चोपपत्तेर्न तत्राधिककल्पनेति होलाकाधिकरणस्यार्थः ।।४०॥

अत एव वसिष्ठेन ज्येष्ठस्यांशद्वयमभिधाय, उपार्जकस्याप्यंशद्वयं पृथगभिहितम् । यथा "अथ भ्रातॄणां दायविभागः" (१७-३६) द्व्यंशं ज्येष्ठो हरेत् (१७-३७) ततोऽनतिदूरे पुनराह येन चैषां समुत्पादितं स्यात् सोऽपि 'द्व्यंशमेव हरेत्' (वसिष्ठ १७-४२) अनेनार्जकतया भागद्वये दर्शिते, ज्येष्ठस्यांशद्वयाभिधानमनर्थकं स्यात् ।।४१॥ द्व्यंशहरत्वमपि न ज्येष्ठतामात्रेण ।

यदाह बृहस्पतिः—

'जन्म-विद्या-गुणज्येष्ठो द्व्यंशं दायादमाप्नुयात् ।
समांशभागिनस्त्वन्ये तेषां पितृसमस्तु सः' ।।

उपार्जकत्वेन भागद्वये जन्मविद्यादिकीर्तनमनुपयोगि ॥ ४२ ॥ एतच्च भागद्वयं सोदरमात्रभ्रातृविभागविषयम्, सोदरासोदरविभागगोचरश्च ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः । यदाह बृहस्पतिः—

'समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् ।
उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम्' ।।४३॥

सवर्णासु बह्वीषु स्त्रीषु जातानां उद्धारपूर्वकविभागश्रुतेर्भागद्वयं सोदरमात्रगोचरमेव सिद्ध्यति । युक्तञ्चैतत् सोदरतयाधिकगौरवात् ।।४४।। उद्धारोऽपि दशसु गवादिषु न कार्यः । तथा मनुः—

'उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु ।
यत्किञ्चिदेव देयं स्याज्ज्यायसे मानवर्धनम्' ।। मनु० ९-११५ ४५॥

तदेवमुक्तप्रबन्धेन यत्र ज्येष्ठभ्रातुरेव पितृधने भागद्वयं कथं? तत्र जनकस्य दान-विक्रय-परित्यागक्षमस्य पितामहधनसम्बन्धमूलस्यापि गुरोः पितुरेव स्वपितृधने भागद्वयं न सम्भवति, 'जन्म-विद्या-गुणज्येष्ठ' इति बृहस्पतिवाक्येन च पितृसमत्वेन भागद्वयं ज्येष्ठस्यातिदिशन् पितुः भागद्वयम् ज्ञापयति

बृहस्पतिः । जीवद्विभागे तु पिता गृह्णीतांशद्वयं स्वयमिति सामान्येनांशद्वयाभिधानोपदेशो बृहस्पतिना दर्शितः ।

तथा नारदः—

'द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता ।
समांशहारिणी माता पुत्राणां स्यान्मृते पतौ' ।। ४६॥ १३-१२

द्रव्यं विभजन् पिता द्वावंशावात्मनो गृह्णीयात्, न पुनरात्मनो द्रव्यं विभजन्निति सम्बन्धः, पूर्वोक्तविरोधात् ।।४७।।

किञ्च पैतामहधने पितापुत्रयोः समभागित्वे यावद्धनं पितुः, तावदेव पुत्रस्यापीति वाच्यम्, न तु यावदेव यदेव धनम्, तावदेव तदेव पुत्रस्यापीति, [1]मध्यगत्वापत्तेः जायापत्योरिव विभागाभावप्रसंगात् ।। ४८ ।। एवञ्च सति भ्रातॄणां विभागे यदा ज्येष्ठस्य ज्येष्ठतया भागद्वयकल्पनम्, तदा तत्पुत्रस्यापि भागद्वयकल्पने पुत्रेण सह ज्येष्ठस्य चत्वारोंऽशाः, भ्रात्रन्तरस्यैकोंऽशः स्यात् । बहुपुत्रत्वे च ज्येष्ठस्य तत् पुत्राणां पितृसमभागकल्पने कनिष्ठभ्रातुर्यत् किञ्चिदेव स्यादिति महाजनविरोधः ।। ४६ ।।

यच्च बृहस्पतिवचनम्—

'द्रव्ये पितामहोपात्ते स्थावरे जङ्गमे तथा ।
सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि ।।'

अंशित्वं समं सामान्यम् । न च स्वेच्छया स्वोपात्तधनवत् न्यूनाधिकविभागं दातुमर्हति, न पुनरंशः सम इति तस्यार्थः ।।५०।। द्विपितृकपित्रभिप्रायं वा समभागवचनम् ।। ५१ ।। 'तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्य' मिति वचनन्तु प्रागेव व्याख्यातम् ।। ५२ ।।

किञ्च यद्यसौ पिता स्वपितुः पुन्नामनरकनिवर्तको ज्येष्ठः, तदा तस्य स्वभ्रातॄनेवापेक्ष्य, यत्र पितृसमत्वेन भागद्वयं सुतराम्, तस्य पुत्रापेक्षया भागद्वयं युक्तम्, पुत्राणां क्रमागतधनसम्बन्धस्य पित्रधीनत्वात् । अथ यः पितुर्न ज्येष्ठः पुत्रः, तस्य स्वपुत्रैः सह समांशतोच्यते ।।५३।। तन्न । मध्यमादिपुत्रणामप्यध्यर्द्धादिविधानात् पितृतया भागद्वयस्यैव सुतरां युक्तत्वात् । सामान्येन च पितापुत्रयोः समांशाभिधानस्य भवतः, मुनीनाञ्चानुचितत्वात् ।५४।

किञ्च पितुरंशद्वयाभिधानं स्वोपात्तद्रव्यगोचरमित्यप्यनुपपन्नम्, तदिच्छानुरोधित्वात् विभागस्य । इच्छातश्च भागद्वयत्रयन्यूनाधिकानामपि प्राप्तेर्विफलो

१ मध्यगत्वञ्च—उभयनिरूपितस्वत्वद्वयवदेकद्रव्यमित्यर्थः ।

विधिः। नियमार्थत्वञ्च वचनस्य न वर्णनीयम्, विष्णुविरोधात्। तदाह—'पिता चेत् पुत्रान् विभजेत्, तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थे, पैतामहे तु पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वाम्यम् १७-१-२ ॥५५॥ अस्यार्थः—स्वोपात्ते यावदेव ग्रहीतुमिच्छति अर्धम्, भागद्वयम्, त्रयं वा। तत् सर्गं तस्य शास्त्रानुमतम्, न तु पैतामहेऽपि ॥५६॥ तथा च हारीतः–जीवन्नेव वा पुत्रान् प्रविभाज्य वनमाश्रयेत्, वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्, स्वल्पेन वा विभज्य, भूयिष्ठमादाय वसेत्, [1]यद्युपदश्येत्, पुनस्तेभ्यो गृह्णीयात् ॥५७॥ अनेन स्वल्पस्य विभागः, भूयिष्ठद्रव्यस्य ग्रहणञ्च पितुरभिहितम्। वृद्धाश्रमः प्रव्रज्या ॥ ५८ ॥

यच्च शङ्खलिखितवचनम्—'स यद्येकपुत्रः स्यात् द्वौ भागावात्मनः कुर्यात्'। अस्यायमर्थः–एकस्य पुत्रः–एकपुत्रः, न पुनरेक एव पुत्रो यस्येति बहुव्रीहिः तस्यान्यपदार्थप्रधानत्वेन षष्ठीतत्पुरुषाद्दुर्बलत्वात्। एकपुत्रश्चौरसः, तथाविधस्य पितुर्भागद्वयम्, न तु क्षेत्रजस्य पितृत्वेऽपि। 'तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्य'मिति वचनं क्षेत्रजपित्रभिप्रायमेव वर्णनीयम् ॥ ५९ ॥

क्षेत्रजो हि द्विपितृकः,। तदाह—**बोधायनः**—

'मृतस्य च प्रसूतो यः क्लीबस्य व्याधितस्य वा।
अन्येनानुमतो वा स्यात् स्वे क्षेत्रे क्षेत्रजः स्मृतः' ॥

स एव द्विपितृकः, द्विगोत्रश्च। द्वयोरपि स्वधाकरो रिक्थभा भवति ॥ ६० ॥

अस्यार्थः—क्लीबादेः स्वे क्षेत्रे तदनुमतोऽन्येन प्रसूतः क्षेत्रजः ॥६१॥

तथा **नारदः**—

'क्षेत्रिकानुमते क्षेत्रे बीजं यस्य प्रकीर्य्यते।
तदपत्यं द्वयोरेव बीजक्षेत्रिकयोर्मतम्' १२-५७, ॥६२॥

अतश्चैकपुत्र आत्मनो भागद्वयं कुर्य्यादिति विधौ, एकपुत्रत्वस्य कर्तृ विशेषणतया विवक्षार्हत्वात् उद्देश्यविशेषणत्वेनाविवक्षितत्वमित्यपि परास्तम् भवति ॥ ६३ ॥ किञ्च परमप्रेक्षावन्मनु-गौतम-दक्षादिप्रयुक्तपदानां प्रतिक्षणमविवक्षामाचक्षाणः स्वस्यैव साक्षादविवक्षितत्वं ख्यापयति ॥ ६४ ॥ तथा पुत्रार्जितेऽपि धने पितुरंशद्वयं द्वावंशाविति। ना०–१३-१२ ॥

'गृह्णीतांशद्वय'मिति चाविशेषश्रुतेः। सुव्यक्तमाह **कात्यायनः**—

'द्व्यंशहरोऽर्द्धहरो वा पुत्रवित्तार्जनात् पिता।
मातापि पितरि प्रेते पुत्रतुल्यांशभागिनी' ॥ ६५ ॥

---

१ उपदश्येत्–भुक्तसर्वधनस्स्यादित्यर्थः।

पुत्रस्य वित्तार्जनात् पितुर्द्व्यंशहरत्वम्, अर्धहरत्वं वेत्यस्यार्थः ।। ६६ ।। न च पुत्रश्च वित्तश्चेति पुत्रवित्ते तयोरर्जनात् पिता द्व्यंशहरः, पुत्रानर्जनात्त सर्वहर इति वाच्यम्, अनर्जितपुत्रस्यापि भ्रातृभिर्विभागे वित्तार्जकतया अंशद्वयस्येष्टत्वात् कथं सर्वहरत्वम्? अतो विभागार्हसम्बन्धिनि विद्यमाने अर्जकस्य द्व्यंशित्वम्; असति तु सर्वहरत्वं वाच्यम्, तथात्र पिता-पुत्रयोः प्रमत्तगीतता स्यात्, किञ्चार्जनं–स्वत्वहेतुभूतव्यापारः । अर्जनम् स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धमित्यभिधानात् । न च पुत्रेषु स्वत्वमस्तीति [1]सर्वस्वदाने (पू.द-६-७-१) प्रदर्शितम् । अतस्तत्र गौणमर्जनपदम् वित्ते च मुख्यम्, न चैतत् सकृच्छ्रुतस्य तस्य सम्भवति ।। ६७ ।। न च पुत्रेणार्जितत्वात् पुत्रस्य द्व्यंशप्राप्तेः पितुश्च भागद्वयस्यास्माद्वचनाद्दतेऽपि प्राप्तेः, समभागत्वापातात् विधानमनर्थकमिति वाच्यम्, एतद्वचनमन्तरेण पुत्रधने पितुर्भागद्वयस्याप्राप्तेर्वचनस्यार्थवत्त्वात् ।। ६८ ।। किञ्च पुत्रवित्तार्जनादित्यस्य पितृधनविषयत्वे पितुरिच्छातो द्व्यंशहरत्वम् अर्द्धहरत्वं वेत्यनुपपन्नम्, इच्छानुरोधित्वात् ग्रहणस्य । इच्छायाश्चानियतत्वात् सार्धसपादपादोनांशग्रहणस्यापि सम्भवात् कथं पक्षद्वयमात्रकीर्तनं नियमार्थत्वञ्च पितृधनगोचरं न सम्भवतीत्युक्तं प्राक् । अत्र च पुत्रार्जितवित्तस्य यथा द्व्यंशहरत्वम्, तथा तस्यैव वित्तस्यार्धहरत्वमिति युक्तम् ।। ६९ ।।

न पुनर्द्व्यंशस्यार्धमेकोंऽशः, तद्ग्रहणार्थं वचनम् । अर्धस्य द्व्यंशस्य चैकदेशत्वेन एकदेशिन आकांक्षितत्वात् पुरुषविशेषणतया हरणकर्मत्वेन च द्वयोः समत्वात् परस्परसम्बन्धानुपपत्तेः । वित्तार्जनादिति पञ्चम्यन्तेन द्व्यंशरूपैकदेशान्वयार्थोपादानस्याविवादात् । अर्द्धपदेनापि तस्यान्वयो युक्तः वित्तार्जनार्द्धपदयोश्चाव्यवधानात् वित्तस्यैवार्द्धं प्रतीयते, न पुनर्द्व्यंशस्यार्द्धमेकोंऽशः प्रतीयते, [2]स्वायत्ते चैकांशपदे प्रयोक्तव्येऽवाचकपदप्रयोगस्यान्याय्यत्वात् वित्तस्यैवार्द्धं युक्तम् ।।७०।। तत्र पितृद्रव्योपघातेन पुत्रार्जितवित्तस्यार्धम् पितुः, अर्जकस्य पुत्रस्यांशद्वयम् इतरेषामेकैकांशिता, अनुपघाते तु पितुरंशद्वयम्, अर्जकस्यापि तावदेव, इतरेषामनंशित्वम् ।। ७१।।

यद्वा विद्यादिगुणसम्पन्नस्य पितुरर्द्धहरत्वम् । विद्यादिनाऽपि ज्येष्ठस्यैवाधिकांशदर्शनात् । विद्यादिशून्यस्य जनकतामात्रेण द्व्यंशित्वम् ।।७२।। तेन

---

१. सर्वस्वदाने-सर्वस्वदानाधिकरणे इत्यर्थः । पुत्रेषु पितुः स्वत्वाभावेन पुत्रदाननिषेधस्य न्यायमूलत्वं दर्शितं मीमांसकैर्यत्र वा प्रभुस्स्यादितरत्यधिकरणे इति शेषः ।

२. स्वायत्ते शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं प्रयुञ्जीतेति न्यायादिति शेषः ।

क्रमागतधनाद्वा पुत्रार्जितधनाद्वा भागद्वयं पिता स्वयं गृह्णीयात्। अतोऽधिकमिच्छन्नपि नार्हतीति वचनार्थः। स्वार्जितधनात्तु यावदेव गृहीतुमिच्छति, तावदेव गृह्णीयात् ॥ ७३॥ पुत्राणान्तु पितामहधनात् विंशोद्धारं दत्त्वा,अदत्त्वैव वा विभजेत्। स्वोपार्जितधनात् पुनर्गुणवत्त्वेन सम्मानार्थम्, बहुकुटुम्बत्वेन वा भरणार्थम्, अयोग्यत्वेन वा कृपया, भक्तत्वेन वा प्रसन्नतया, अधिकदानेच्छुर्न्यूनाधिकविभागं कुर्वन् धर्मकारी पिता ॥ ७४॥

तदाह याज्ञवल्क्यः—

'न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः' (याज्ञवल्क्य० २-११७)—

तथा बृहस्पतिः—

'समन्यूनाधिका भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः।
तथैव ते पालनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा'॥

नारदश्च—

'पित्रैव तु विभक्ता ये समन्यूनाधिकैर्धनैः।
तेषां स एव धर्म्यः स्यात् सर्वस्य हि पिता प्रभुः' (ना०१३-१५)।७५।

सर्वधनप्रभुत्वस्य हेतुत्वात्, पैतामहे च तदसम्भवात्, न्यूनाधिकविभागः पितृकृतः पितृधनविषय एवायं धर्म्यः। तथाच विष्णुः-

'पिता चेत् पुत्रान् विभजेत्, तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थे, पैतामहे तु पिता-पुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वम्' (विष्णु० १७-१-२) ॥ ७६ ॥

ननु—

'विभागश्चेत् पिता कुर्यादिच्छया विभजेत् सुतान्।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः' (याज्ञ० २-११५) इति याज्ञवल्क्यवचनादुद्धाररूपश्रेष्ठभागावगतेः, कथं ततो न्यूनाधिकत्वमभिधीयते? उच्यते; उपरते पितरि भ्रातृभिरपि विभागे क्रियमाणे विंशोद्धाररूपश्रेष्ठांशस्य सिद्धत्वाद्वचनानर्थक्यात् न तदर्थत्वम् ।।७७।। अथ विनाप्युद्धारम् समांशतायाः पितृकृताया धर्म्यत्वार्थं वचनमुच्यते। तन्न। न्यूनत्वमेव, तर्हि पितृकृतं धर्म्यं स्यादित्यधिकपदमनर्थकं स्यात् ॥ ७८॥

किञ्चोद्धाराभिप्रायेण समन्यूनाधिकत्ववर्णने इच्छया विभजेदित्यनर्थकम् पदम्। एतदितरपदत्रयेणैव वक्तव्यस्याभिहितत्वात्। अस्मन्मते तु इच्छया विभजेदिति स्वोपात्तधनविषयम्, श्रेष्ठांशता-समानांशतयोस्तु पैतामहधनगोचरत्वमिति, न किमप्यनर्थकम् ॥ ७९॥ किञ्च पितर्युपरतेऽपि द्विप्रकारः विभागो बृहस्पतिनोक्तः।

यथा—

'द्विप्रकारो विभागस्तु दायादानां प्रकीर्तितः ।
वयोज्येष्ठक्रमेणैकः समा परांऽशकल्पना' ॥

ज्येष्ठक्रमेणेत्युद्धारं दर्शयति । तथा समांशता परेति भ्रातॄणामपि परवभागस्य द्विप्रकारत्वात् पितृकृतस्य विशेषो न स्यात् ॥ ८० ॥

स्परतिथा नारदः—

'पितैव वा स्वयं पुत्रान् विभजेद्वयसि स्थितः ।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन यथा वाऽस्य मतिर्भवेत्' (ना०१३-४) ।८१।

ज्येष्ठस्य श्रेष्ठभागमभिधाय, पुनर्यथा वाऽस्य मतिर्भवेदित्यनेन यादृशे न्यूनाधिकविभागे पितुः पूर्वोक्तकारणात् कर्तव्यतामतिर्भवेदिति पृथगभिधानात् श्रेष्ठभागादन्य एवायं न्यूनाधिकविभागः प्रतीयते ॥ ८२ ॥

यत् पुनर्नारदवचनम्—

'व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तचेतनः ।
अयथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः' ॥ (ना०१३-१६) इति ।

तत् व्याधिनाऽऽकुलचित्ततया, कस्मिंश्चित् पुत्रे क्रोधाद्वा, सुभगापुत्रस्नेहाद्वाऽयथाशास्त्रं विभजति, तद्विषयम् । पूर्वोक्तकारणात्तु शास्त्रीय एव विषमविभागः ॥ ८३ ॥ यथा कात्यायनः—

'जीवद्विभागे तु पिता नैकं पुत्रं विशेषयेत् ।
निर्भाजयेन्न चैवैकमकस्मात् कारणं विना' ॥ ८४ ॥

नैकमधिकदानेन विशेषयेत्, न च निर्भाजयेत्—विभागशून्यं न कुर्यात् । कारणं विना उद्धारादिविशेषो हि बहूनामेव, नैकस्य--एकस्यापि च पुत्रस्य कारणं विना विशेषो न कार्यः, कारणवशात्तु कार्य एव । एकस्यापीत्यवगतेर्नोद्धारापेक्षो विशेषः, किन्तु पितुरिच्छाकृत एवेति यथोक्त एवार्थः ॥८५॥ यदि पुनः पितरि जीवति पुत्रा एव विभागमर्थयन्ते, तदा विषमविभागः पित्रा न दातव्यः । तदाह मनुः—

'भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत् सह ।
न तत्र भागं विषमं पिता दद्यात् कथञ्चन' ॥ मनु० ७-२१५ ।८६।

उद्धारस्तु तदा पित्रा दातव्य एव, तस्य विषमविभागरूपत्वाभावात्, न्यूनाधिकविभागस्यैव निषेधात् ॥ ८७ । इति पितृकृतो विभागः ॥ ८८ ॥

पारिभद्रकुलोत्पन्नस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ
धर्मरत्नान्तर्गते दायभागे पितृकृतविभागो नाम
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

(प्रथमः परिच्छेदः)

इदानीमुपरते पितरि भ्रातॄणां विभागः कथ्यते। सोऽपि च मातरि जीवन्त्याम्, सत्यपि पित्रुपरमाद्धनस्वामित्वे धर्म्यो न विभागः सोदराणाम् भवतीति कथ्यते-'ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्चे' (मनु० ९-१०४) ति। उभयोरुपरमे सोदराणाम् पैतृकधनविभागस्य [1]ज्ञापनात्॥ १॥ न पुनर्मातुरूर्ध्वं मातृधन-विभागार्थम्, पैतृकपदात् पितृधनमात्रस्यैव विभागावगतेः, पैतृकपदस्यैकशेष-कल्पनाया प्रमाणाभावात्॥ २॥

किञ्च 'जनन्यां संस्थितायामि'त्यनेनैव (मनु० ९-१९) मातरि मृतायाम् तदीयधनविभागस्य मनुना वक्ष्यमाणत्वात्। ऊर्द्धं मातुरिति पुनरुक्तम् स्यात्॥ ३॥

यथा **याज्ञवल्क्यः**—

'विभजेरन् सुताः पित्रोरूर्ध्वंमृक्थमृणं समम्।
मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः' २-११८॥ ४॥

मातृधनविभागस्य दुहितॄणां सद्भावेऽनधिकारः, असद्भावे चान्वयपदेन पुत्राणामधिकार इत्युत्तरार्द्धेनैव प्रतिपादनात्। पूर्वार्द्धे पित्रोरिति पितृधन-विषयमेव, अन्यथा पुनरुक्तत्वापत्तेः॥ ५॥ मातापित्रोरुपरमे भ्रातरो विभ-जेरन्निति वदता याज्ञवल्क्येन उभयोरुपरमानन्तरकालस्य विभागार्थतया विधानात् साहित्यं विवक्षितम्॥ ६॥ तथा च शङ्खलिखितौ 'रिक्थमूलं हि कुटुम्बमस्वतन्त्राः पितृमन्तो मातुरप्येवमवस्थितायाः। मातुरपि सकाशाद-स्वतन्त्रा विभागानधिकारिणः' इत्याहतुः॥ ७॥

सुव्यक्तमाह **व्यासः**—

'भ्रातॄणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते।
तदभावे विभक्तानां धर्मस्तेषां विवर्धते'॥ ८॥

सहवासविधानमुखेन पृथग्भावनिषेधात्। पितृमातृजीवनवतश्च विभाग-निषेधात् जीवतोरिति साहित्यमविवक्षितम्। अत एकस्मिन्नपि जीवति विभागः न धर्म्यः, किन्तूभयोरभावे॥ ९॥

---

१. मनुनेति शेषः।

यथाह बृहस्पतिः—

'पित्रोरभावे पुत्राणां विभागः सम्प्रदर्शितः ।
मातुर्निवृत्ते रजसि जीवतोरपि शस्यते' ।। १० ।।

निवृत्तरजस्कायां मातरि जीवन्त्यां विभागस्य मातृधनगोचरत्वानुपपत्तेः । उभयाभावोक्तविभागस्यैव जीवतोरपीत्यपिकारेण शस्तत्वकीर्तनात् । उभयोरभावे भ्रातृविभागः पितृधनगोचर एवावधार्यते ।। ११ ।। अत एव जीवन्त्याम् मातरि मातृप्रधानकं विभागं निर्दिशति व्यासः—

'समानजातिसंख्या ये जातास्त्वेकेन सूनवः ।
विभिन्नमातृकास्तेषां मातृभागः प्रशस्यते' ।।

तथा बृहस्पतिः—

'यद्येकजाता बहवः समाना जातिसङ्ख्यया ।
[1]सापत्नास्तैर्विभक्तव्यं मातृभागेन धर्मतः' ।। १२ ।।

पुत्राणां जातिसङ्ख्यासाम्येन विभागे विशेषाभावात् मातुरेवायं विभागः, न पुत्राणामित्युद्दिश्य विभागः कर्तव्यः । तेनेतरमातृधन इवात्रापि पुत्राणाम् मातरि जीवन्त्यां न परस्परविभागे स्वातन्त्र्यम्, किन्तु मातुरनुमत्यैव परम् विभागो धर्म्यः ।। १३ ।। अतो यद्गौतमादिभिरुक्तम्–'विभागे तु धर्मवृद्धिरि'त्यादि (२८-४) । तन्मातुरुपरमे वेदितव्यम् ।। १४ ।। तत्र यद्यविभक्ता एव स्थातुमिच्छन्ति, तदा ज्येष्ठ एव योगक्षेमशक्तः सर्वं गृह्णीयात्, इतरे पितरमिव तमुपजीवेयुः—

यथा मनुः—

'ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा' ।। मनु० ९-१०५ ।

तथा गौतमः 'सर्वस्वं वा पूर्वजस्य, स इतरान् बिभृयात् पितृवत् (२८-३) वाशब्दात् पृथग्वा भवेयुः, सह वा वसेयुः । सहवासश्च सर्वेषामिच्छात एव ।

यथा नारदः—

'बिभृयाद्वेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता ।
भ्राता शक्तः कनिष्ठो वा शक्त्यपेक्षा कुल स्थितिः' ।। ना० १३-५ ।

शक्तः सन् कनिष्ठोऽपि सर्वान् बिभृयात् । मध्यमोऽत्र दण्डापूपन्यायात्

---

१. सापत्न्यादिति-पाठान्तरम् ।

सिद्धः ॥ १५ ॥ विभागस्त्वेकस्यापीच्छया भवतीत्युक्तं [1]प्राक् ॥१६॥ अत एव विभागं प्रक्रम्याह कात्यायनः—

'अप्राप्तव्यवहाराणां धनं व्ययविवर्जितम् ।
न्यसेयुर्बन्धु-मित्रेषु प्रोषितानां तथैव च' ॥

तथा 'रक्ष्यं बालधनमाव्यवहारप्राप्तेरि'ति वचनम् ।१७। अयश्च पुत्राणाम् विभागः पुत्र-पौत्र-प्रपौत्राणां समानः, नात्रोत्पत्तिकक्रमेणाधिकारक्रमः । पुत्रादीनां त्रयाणामेव पार्वणे तत्पिण्ड-तद्भोग्य-पिण्डद्वयदानाविशेषात् ।

अत एव देवलः—

'पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
उपासते सुतं जातं शकुन्ता इव पिप्पलम् ॥
मधुमांसैश्च शाकैश्च पयसा पायसेन च ।
एष नो दास्यति श्राद्धं वर्षासु च मघासु च' ॥

तथा शङ्ख-लिखित-यमाः—

'पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
जातं पुत्रं प्रशंसन्ति पिप्पलं शकुना इव ॥
मधुमांसेन खड्गेन पयसा पायसेन वा ।
एष दास्यति नस्तृप्तिं वर्षासु च मघासु च' ॥

प्रपितामहग्रहणात् पुत्रपदं प्रपौत्रपर्यन्तपरम् । तदनेन प्रपौत्रपर्यन्तस्य श्राद्धदानेन प्रपितामहपर्यन्तोपकारकत्वात् तुल्यो दायाधिकारः ॥ १८ ॥ अतः एव जीवत्पितृकयोः पौत्र-प्रपौत्रयोरनधिकारः पार्वणानधिकारितया पिण्डाप्रदातृत्वात् ॥ १९ ॥ पित्रोरुपरमे च भ्रातॄणां पितृकृतो विशेषः परं निवर्तते, अन्यत् तु सर्वमेव प्रत्येतव्यम् ।२०। यदा चैकः पुत्रोऽस्ति, अपरस्य पुत्रस्य पुत्राः सन्ति, तदा तस्यैको भागः, अपरश्च बहूनां नप्तॄणां स्वपित्रधीनजन्ममूलत्वाद्धनसम्बन्धस्य यावत्येव धने तस्य स्वामित्वार्हत्वम्, तावत्येव तेषामपि ॥२१

यच्च—

'अनेकपितृकाणान्तु पितृतो भागकल्पने' (याज्ञ० २-१२१) इति वचनम् । तस्य नायं विषयः—पितृव्यपितुरेव तत् सर्वं धनमिति, पितृव्यस्यैव सर्वम् स्यात्,न तद्भ्रातुः पुत्राणाम्, पितृतो भागकल्पने पितापुत्रविभागवद्भागकल्पने पितुर्भागद्वयसम्बन्धात् पितृव्यस्य भागद्वयं भवेत्, तद्भ्रातुः पुत्राणां त्वेकैको.

---

१. पितृधनविभागप्रकरणे एकस्यापि स्वधने स्वाम्यादित्यादिनेत्यर्थः ।

भागः स्यात्, तदा च शिष्टाचारविरोधः स्यात् ॥२२॥ अस्य पुनरेष विषयः यत्रैकस्य भ्रातुरल्पसंख्यकाः पुत्राः सन्ति, अपरस्य बहुसंख्यकाः, तत्र पितृतः भागकल्पनेति ॥ २३ ॥

इति पारिभद्रकुलोत्पन्नस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ–धर्मरत्नान्तर्गते दायभागे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः।

———

(द्वितीयः परिच्छेदः)

इदानीं सवर्णभ्रातॄणां विभागः, विंशोद्धारादिपूर्वको वा, सम एव वेति विकल्पः ॥२४॥ उद्धारमन्तरेणापि समविभागमाह पितरीत्यनुवृत्तौ हारीतः– 'समानतो मृते रिक्थविभागः'।

तथोशनाः—

'वर्णानामानुलोम्यानां विभागोऽयं प्रदर्शितः।
समत्वेनैकजातानां विभागस्तु विधीयते'॥

तथा च पैठीनसिः, 'पैतृके विभज्यमाने दायाद्ये समो विभागः'।

तथा याज्ञवल्क्यः—

'विभजेरन् सुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थमृणं समम्'। याज्ञ० २-११२।

अतः सोद्धारानुद्धारभागयोर्विकल्पः ॥२५॥ न च केवलसमविभागस्यापि शास्त्रीयत्वान्नित्यवत्तस्यैवानुष्ठानं स्यादिति वाच्यम्। भक्त्यतिशयेन भ्रातॄणामुद्धारानुमतेरपि सम्भवाद्विभागाविभागवद्विकल्पः ॥२६॥ अत एवाद्यतनानाम् भक्त्यतिशयाभावात् समभाग एव लोके दृश्यते, उद्धारार्हज्येष्ठाभावाच्च ॥२७॥ यस्तु स्वयोग्यतामात्रपरामर्शात् पितृपितामहादिधनविभागे निस्पृहः। सः किञ्चिदेव तण्डुलप्रस्थमपि दत्वा तत्पुत्रादेः कालान्तरीयदुरन्ततानिरासार्थम् विभजनीयः।

तदाह मनुः—

'भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा।
स निर्भाज्यस्स्वकादंशात् किञ्चिद्दत्वोपजीवनम्'॥ म. ९-२०७।

तथा याज्ञवल्क्यः—

शक्तस्यानीहमानस्य किञ्चिद्दत्त्वा पृथक्क्रिया। याज्ञ० २-११७॥ २८॥

पितरि चोपरते सोदरभ्रातृभिर्विभागे क्रियमाणे मात्रेऽपि पुत्रसमांशः दातव्यः, 'समांशहारिणी माते' ति वचनात् ॥२६॥ मातृपदस्य जननीपरत्वात्, न सपत्नीमातृपरत्वमपि, *सकृच्छ्रुतस्य मुख्य-गौणत्वानुपपत्तेः ॥ ३० ॥ समांशता च मातुर्भर्त्रादिभिः स्त्रीधनादाने, दत्ते पुनरर्धम्। पित्रा च पुत्रेभ्यः समविभागदाने सर्वपत्नीनामेव पुत्रसमांशता कर्तव्या।

तदाह याज्ञवल्क्यः—

'यदि कुर्यात् समानांशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः।
न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा ॥ याज्ञ० २-११६।
अधिविन्नस्त्रियै देयमाधिवेदनिकं समम्।
न दत्तं स्त्रीधनं यासां दत्ते त्वर्द्धं प्रकल्पयेत्' ॥ याज्ञ० २-१४६॥ ?

पुत्रहीनाश्च पितुः पत्न्यः समानांशाः, न पुत्रवत्यः।

तथा व्यासः—

'असुतास्तु पितुः पत्न्याः समानांशाः प्रकीर्तिताः।
पितामह्यश्च सर्वास्ता मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः' ॥

तथा विष्णुः—

'मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहारिण्यः, अनूढा, दुहितरश्च'।
विष्णु० १८-३४-३५ ॥ ३२ ॥

पुत्रभागानुसारेण यथावर्णक्रमेण पुत्राणां चतुस्त्रिद्व्येकभागिता, तथा पत्नीनामपीति ॥ ३३ ॥ अनूढानां दुहितॄणां पुत्रभागमनुसृत्य तच्चतुर्थांशः।

तदाह बृहस्पतिः—

'समांशा मातरस्त्वेषां तुरीयांशाश्च कन्यकाः ॥ ३४ ॥

पुत्रस्य भागत्रयम्, कन्यकाया एको भागः।

यदाह कात्यायनः—

'कन्यकानां त्वदत्तानां चतुर्थो भाग इष्यते।
पुत्राणाञ्च त्रयो भागाः स्वाम्यं स्वल्पधने स्मृतम्' ॥

अल्पधने पुत्रैः स्वात् स्वादंशादाकृष्य-कन्याभ्यश्चतुर्थोऽशो दातव्यः।

'स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः' ॥मनु० ९-११८ ॥३६॥

प्रदद्युरिति प्रदानश्रुतेः, अदाने च पतितत्वश्रुतेः। *न कन्याभिरधिकारिबुद्ध्या ग्रहीतव्यम्। न ह्यधिकारिणे भ्रात्रेऽपरो भ्राता स्वादंशाद्ददाति ॥३७॥

यथा याज्ञवल्क्यः—

'असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ।
भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्त्वांशन्तु तुरीयकम्' ॥ याज्ञ० २-१२५ ।

भगिनीनां संस्कार्यतामाह, नाधिकारिताम् ॥ ३८ ॥ एवञ्च बहुतरधने विवाहोचितधनं दातव्यम्, न चतुर्थांशनियम इति सिद्ध्यति ॥ ३९ ॥ एतच्च कन्या-पुत्रयोः समसङ्ख्यत्वे ज्ञातव्यम्, विषमसङ्ख्यत्वे च कन्याया एव बहुतरधनं वा स्यात्, पुत्रस्य वा निर्धनता स्यात्, न चैतदुचितम्, पुत्रस्य प्राधान्यात् ॥ ४० ॥

[1]यच्चेदमत्र बाधकमुक्तम्—

'अविद्यमाने पित्रर्थे स्वांशादुद्धृत्य वा पुनः ।
अवश्यकार्याः संस्कारा भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ॥ ना० १३-३४ ।

अस्मान्नारदवचनादवश्यकर्तव्यत्वाद्भगिनीनां संस्कारस्य निरंशतापि न दोषायेति ॥ ४१ ॥

तदयुक्तम्; भ्रातृसंस्कारार्थत्वादस्य वचनस्य, 'भ्रातॄणां पूर्वसंस्कृतै'रिति पाठस्यानाकरत्वात् । भ्रातृसंस्कारस्य च प्रकृतत्वात् ।

इदं हि पूर्वमुक्तम्—

'येषान्तु न कृताः पित्रा संस्कारविधयः क्रमात् ।
कर्तव्या भ्रातृभिस्तेषां पैतृकादेव तद्धनात्' ॥ ना० १३-३३ ।

येषाम्, तेषामिति पुंलिङ्गनिर्देशात् एतदनन्तरमेवाविद्यमाने । (१३-३३) इति वचनारम्भात् भ्रातृसंस्कारार्थमेवेदं वचनम्[2] ॥ ४२ ॥ इति पितृ-पितामहादिधनविभागः ॥ ४३ ॥

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ—
धर्मरत्नान्तर्गते दायभागे तृतीयाध्यायस्य
द्वितीयः परिच्छेदस्समाप्तः ।
तृतीयाध्यायश्च समाप्तः ।

---

१. मित्ताक्षरोक्तंनिरसितुमनुवदति, यच्चेति । २. अत्रेदं बोध्यम्—अर्थसाधुत्वे सम्भवति शब्दसाधुत्वमात्रस्यान्याय्यत्वात् । नारदवचनेन भगिनीसंस्कारस्याप्यवश्यकर्तव्यत्वेन निरंशता न दोषमावहति । तथाहि-पितृपितामहयोरभावे भगिनीदानाधिकारितया भ्रातुरावश्यक एव भगिनीसंस्कारः, 'अथ ऋतुमती भवति, दाता प्रतिग्रहीता च नरकमाप्नोतीति स्मरणात् । अत एव याज्ञवल्क्यः 'भगिन्यश्च निजादंशादि' त्यादिना भगिनीनां भ्रातृवत्संस्कार्यत्वं स्मरति, अतो बहुभ्रातृसंस्काराद्भ्रातुर्निर्धनत्ववत् भगिनीसंस्कारादपि निर्धनता न दोषावहा । अतः भ्रातृसंस्कारार्थमेवेति प्रौढिवादेन नेयम् ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(प्रथमः परिच्छेदः)

अथ स्त्रीधनविभागार्थं प्रथमं स्त्रीधनं निरूप्यते ।

तत्र विष्णुः—

'पितृ-मातृ-सुत-भ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकं बन्धुदत्तं शुल्कान्वाधेयकमि' ।। इति स्त्रीधनम् ।
विष्णु० १७-१८ ।

अन्वाधेयमाह कात्यायनः—

'विवाहात् परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुलात् स्त्रिया ।
अन्वाधेयं तदुक्तन्तु लब्धं बन्धुकुलात्तथा' ।।
ऊर्ध्वं लब्धन्तु यत्किञ्चित् संस्कारात् प्रीतितस्स्त्रिया ।
भर्तुः पित्रोः सकाशाद्वा अन्वाधेयन्तु तद्भृगुः' ।।

बन्धुपदेन माता-पित्रोरुपादानम्, तेनायमर्थः—मातापितृद्वारेण सम्बन्धिनाम्, पित्रोश्च सकाशात् यत्तु विवाहात् परतो लब्धम्, तथा भर्तुः सकाशात् भर्तृकुलाच्च श्वशुरादितो यल्लब्धं धनम्, तदन्वाधेयम् । विष्णुवचने च बन्धुपदं मातुलाद्यभिप्रायम्, पित्रादीनां स्वपदेनैव निर्दिष्टत्वात् । परिणयनसमयलब्धस्य ब्राह्माद्यासुरादिविशेषेण भर्तुः, पित्रोर्वाऽधिकारात् ।। ३ ।।

स्त्रीधनमाहतुर्मनु-कात्यायनौ—

'अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तञ्च प्रीतितः स्त्रियै ।
भ्रातृ-मातृ-पितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्' ।। मनु० ९-१९४

तथा नारदः—

'अध्यग्न्यध्यावाहनिकं भर्तृदायस्तथैव च ।
भ्रातृदत्तं पितृभ्याञ्च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्' ।। ना० १३-८ ।

एतद्व्याकुरुते कात्यायनः—

'विवाहकाले यत् स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसन्निधौ ।
तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ।।

यत् पुनर्लभते नारी नीयमाना हि पैतृकात् ।
अध्यावाहनिकं नाम तत् स्त्रीधनमुदाहृतम्' ॥ ५ ॥

पैतृकादित्येकशेषेण पितृमातृकुलात् यल्लभते धनं भर्तृगृहं नीयमाना, तदध्यावाहनिकम् ॥ ६ ॥ भर्तृदायः--भर्तृदत्तं धनम्, भर्तृदायमनभिधाय, मन्वादिभिर्भर्तृदत्तस्याभिधानात् नारदेनापि भर्तृदत्तमनभिधाय भर्तृदायस्याभिधानात् ॥ ७ ॥ तथाऽन्यत्रापि भर्तृदत्ते भर्तृदायप्रयोगो दृष्टः ।

यथा कात्यायनः—

'भर्तृदायमृते पत्यौ विन्यसेत् स्त्री यथेष्टतः ।
विद्यमाने तु संरक्षेत् क्षपयेत्तत्कुलेऽन्यथा' ॥ ८ ॥

अस्यार्थः—भर्तृदत्तं धनं भर्तरि मृते यथेष्टं विनियुञ्जीत, जीवति तु तद्रक्षेत् । इदममुक्तहस्तताज्ञापनार्थम्, तथा व्यासवचनमपि भर्तृदेयपर्यन्तताज्ञापनार्थम् ॥ ९ ॥

यथा—

'द्विसहस्रपरो दायः स्त्रियै देयो धनस्य तु ।
*यच्च भर्त्रा धनं दत्तं सा यथाकाममश्नुयात्' ॥

द्विसहस्रपर्यन्तः स्त्रियै देयः, नाधिकः, केनेत्याकाङ्क्षायां भर्त्रेति श्रुतमन्वेति, न पुनरश्रुतकल्पना । तथाच देय इति ददातिर्मुख्यः स्यात् । मृतपतिधने तु तावति पत्न्या एव स्वामित्वात् गौणः, स चान्याय्यः ॥ १० ॥ यच्च भर्तृदत्तं धनम्, तद् यथा काममश्नीयात् । अतोऽपुत्रस्य मृतस्य पत्युर्धने द्विसहस्रपर्य्यन्त एव पत्न्या अधिकारः, न सर्वत्रेति यदुक्तम्, तद्विद्वद्भिरनादेयम्' ॥ ११ ॥ एतच्च विस्तरेण वक्ष्यते ॥ १२ ॥

आह याज्ञवल्क्यः—

'पितृ-मातृ-पति-भ्रातृदत्तामध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकञ्चैव स्त्रीधनं परिकीर्तितम्' ॥ याज्ञ० २-१४४ ॥१३॥

यच्च द्वितीयस्त्रीविवाहार्थिना पूर्वस्त्रियै पारितोषिकं धनं दत्तम्; तदाधिवेदनकम्, अधिकस्त्रीलाभार्थत्वात्तस्य ॥ १४ ॥

---

*एतेनेदं सर्वमालूनविशीर्णम्—आद्विसहस्रादिति कात्यायनेन, द्विसाहस्रः पर इति० याज्ञवलक्येनोक्तत्वात् इतोऽधिकमधिकंधनिना न स्त्रीभ्योदेयमिति विज्ञानेश्वरीयम् । तदुपबृंहणञ्च । अयञ्चाने नियमः प्रतिवर्षं सकृद्दमिणे वेदितव्यः । तेनानेकहायनेषु;, जीवनार्थत्वाद्दानस्य, यावज्जीवञ्च द्विसाहस्रमात्रेण जीवननिर्वाहासंभवात्-इति ।

तथा देवलः—

वृत्तिराभरणं शुल्कलाभश्च स्त्रीधनं भवेत् ।
भोक्त्री तत्स्वयमेवेदं पतिर्नार्हत्यनापदि ॥ १५ ॥

तथा व्यासः—

'विवाहकाले यत्किञ्चित् वरायोद्दिश्य दीयते ।
कन्यायास्तद्धनं सर्वमविभाज्यञ्च बन्धुभिः' ॥ १६ ॥

उद्दिश्येति–कन्याया इदं भवत्वित्युद्दिश्य वराय यद्दानम्, न पुनरेतदभिसन्धि विनापीत्यर्थः । अतएव विवाहकाल इति प्रदर्शनार्थम्, न पुनरेतदेव प्रयोजकम्, दात्रभिसन्धिनिमित्तत्वात् स्वत्वस्य ।

तथाच प्रामाणिकं वचनम्—

'यद्दत्तं दुहितुः पत्ये स्त्रियमेव तदन्वियात् ।
मृते जीवति वा पत्नी तदपत्यमृते स्त्रियाः' ॥

विवहकाल इति न [1]विशिनष्टि, अभिसन्धिस्तु दुहित्रन्वयाभिधानादेव लब्धत्वान्नोक्तः ॥ १७ ॥ तदेवमव्यवस्थित[2] सङ्ख्यास्त्रीधनकीर्तनात् न षट्सङ्ख्या विवक्षिता, किन्तु स्त्रीधनकीर्तनमात्रपराणि वचनानि । तदेव च स्त्रीधनम्, यत्र भर्तृतः स्वातन्त्र्येण दान-विक्रय-भोगान् कर्तुमधिकरोति ॥१८॥

तदिदं किञ्चित् संक्षिप्याह कात्यायनः—

'प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः ।
भर्तुः स्वाम्यं भवेत् तत्र शेषन्तु स्त्रीधनं स्मृतम्' ॥ १९ ॥

अन्यत इति पितृ-मातृ-भर्तृकुलव्यतिरिक्तात् यल्लब्धम्; शिल्पेन वा यदर्जितम्, तत्र भर्तुः स्वाम्यम्-स्वातन्त्र्यम्, अनापद्यपि भर्ता ग्रहीतुमर्हति, तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनम्, अस्वातन्त्र्यात् ॥२०॥ एतद्व्यतिरिक्तधनन्तु स्त्रियाः एव, दानविक्रयाद्यधिकारात् ।

तदाह कात्यायनः—

'ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽथवा ।
भर्तुः सकाशात् पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥
सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते ।
यस्मात्तदानृशंस्यार्थं तैर्दत्तं तत्प्रजीवनम् ॥

१. न विशिनष्टि–न विशेषणं दत्तवान् ।

२. अनियतसंख्येत्यर्थः ।

सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्तितम् ।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि' ॥[१]

सुदायः--सम्बन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम् ॥ २२ ॥ स्थावरेऽपि भर्तृदत्तमात्रे स्त्रिया दानाद्यनधिकारः ॥

तदाह नारदः—

'भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत् ।
सा यथाकाममश्नीयात् दद्याद्वा स्थावराद्दते' ॥

भर्तृदत्तविशेषणात् भर्तृदत्तस्थावराद्दते अन्यत् स्थावरं देयमेव भवति, अन्यथा 'यथेष्टं स्थावरेष्वपी'ति विरुध्येत ॥ २३ ॥ भर्ता तु यदा दुर्भिक्षादौ स्त्रीधनं विना वर्तनाक्षमः, तद्ग्रहीतुमर्हति, नान्यदा ।

यदाह याज्ञवल्क्यः—

'दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ सम्प्रतिरोधके ।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति' ॥ याज्ञ० २-१४८ ।

अन्यत्र पुनरधिकारमाह कात्यायनः—

'न भर्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च ।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः ॥
यदि ह्येकतरस्त्वेषां स्त्रीधनं भक्षयेद्बलात् ।
स वृद्धिं प्रतिदाप्यः स्याद्दण्डश्चैव समाप्नुयात् ॥
तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षयेत् प्रीतिपूर्वकम् ।
मूलमेव तदा दाप्यो यदा स धनवान् भवेत् ॥
अथ चेत् स द्विभार्यः स्यात् न च तां भजते पुनः ।
प्रीत्या विसृष्टमपि चेत् प्रतिदाप्यः स तद्बलात्' ॥
ग्रासाच्छादनवासानामुच्छेदो यत्र योषितः ।
तत्र स्वमाददीत स्त्री विभागं रिक्थिनां तथा' ॥ २४ ॥

स्त्रिया धनं गृहीत्वा यद्यपरभार्यया सह वसति; तांश्चावजानीते, तदा गृहीतधनं राज्ञा बलाद्दाप्यम्:, भक्ताच्छादनादिकं यदि भर्ता न ददाति, तदा तदपि स्त्रिया आकृष्य ग्राह्यम् ॥ २५ ॥ इति [२]स्त्रीधनलक्षणम् ॥ २६ ॥

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्नान्तर्गते दायभागे चतुर्थे प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ।

---

१. स्थावराद्दतेऽधिकारस्त्रिया इति मितक्षराकृन्मतमत्र निरस्यतीति ज्ञेयम् ।
२. स्त्रीधननिरूपणमिति खपुस्तके पाठः ।

(द्वितीयः परिच्छेदः)

इदानीं स्त्रीधनविभागोऽभिधीयते ।

तत्र मनुः—

'जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः' ।। मनु० ६-१६२ ।।१।।

द्वन्द्वाश्रवणेऽपि तत्तुल्यार्थकचकारेण भ्रातृ-भगिन्योरितरेतरयुक्तयोर्विभागप्रतिपादनात् भगिन्यः, सहोदराश्च विभजेरन्नित्ययमेवास्य वचनस्यार्थः ।।२।।

*बृहस्पतिरपि चकारात् समुच्चयमाह—

'स्त्रीधनं तदपत्यानां दुहिता च तदंशिनी ।
अप्रत्ता चेत् समूढ़ा तु न लभेन्मातृकं धनम्' ।। ३ ।।

अपत्यपदं पुत्रपरम् । तेषामप्रत्ताभिर्दुहितृभिः सह मातृधनविभागः ।

तथाच शङ्ख-लिखितौ—

'समं सर्वे सोदर्या द्रव्यमर्हन्ति कुमार्यश्च' ।। ४ ।।

सर्वत्रैव प्रथमं पुत्रोपादानात् *सर्वावस्थस्य पुत्रस्य मातृधनेऽधिकारः, चकारश्रुतिश्च सर्वत्रानुगता समुच्चयवाचिका ।। ५ ।।

एतावताप्यु[1]द्ग्राहमल्लस्य देवलवचनं गलहस्तः ।

यथा—

'सामान्यं पुत्र-कन्यानां मृतायां स्त्रीधनं स्त्रियाम् ।
अप्रजायां हरेद्भर्ता माता भ्राता पितापि वा' ।। ६ ।।

इह पुत्र-कन्ययोः साधारणं मातृधनमिति सुव्यक्तम्, केवलकुमार्याः सकलमातृधनाधिकारित्वे यौतकधने विशेषवचनं मन्वादीनामनर्थकं स्यात्, सर्वत्राधिकाराविशेषात् ।। ७ ।।

यः पुनरेवं समाधानं ब्रूते—भ्रातृ-भगिन्योस्तुल्यवज्जननीधनाधिकारित्वे

---

१. संस्कृतस्य, असंस्कृतस्य चेत्यर्थः ।

* मुद्रितबृहस्पतिस्मृतौ नेदं वचनमुपलभ्यते, परन्तु कुल्लूकभट्टेन जनन्याम् संस्थिताया ममित्य (मनु. ९-१९२) श्लोकस्यव्याख्याने वचनमिदं बृहस्पतिर्वचनत्वेनोदाहृतम् । चतुर्थपादे विशेषः लभते मानमाकमिति ।

समभागविधानं युक्तं केवलभगिनीनाम्, तदभावे च केवलभ्रातृणां धनसम्बन्धे 'समं स्यादश्रुतत्वाद्विशेषस्ये'ति न्यायत एव समत्वप्राप्तेरनर्थकं सममिति[२]।

स एवं वाच्यः-भ्रातृभगिन्योरप्यधिकारे समं स्यादिति न्यायात् समत्वप्राप्तेरविशेषादानर्थक्यस्य तदवस्थत्वात्। किञ्च केवलभ्रात्रधिकारपक्षेऽपि पितृधन इव मातृधनेऽपि विंशोद्धारादिप्रसक्तिनिवर्तकतया समपदस्य सार्थकत्वात् कथमनर्थकता? अतो †वचनन्यायानभिज्ञः सर्वैः प्राज्ञैरवज्ञेय एव किञ्चिज्ज्ञ इति ॥ ८ ॥

किन्तूक्तादेव हेतोः पुत्र कुमारीदुहित्रोस्तुल्यवदधिकारः,

एतयोश्चान्यतराभावेऽन्यतरस्य तद्धनम्, द्वयोरप्येतयोरभावे तु ऊढायाः दुहितुः पुत्रवत्याः, सम्भावितपुत्रायाश्च तुल्योऽधिकारः, स्वपुत्रद्वारेण पार्वणपिण्डदानसम्भवात् ॥९॥ अतएव पूर्वोक्तदुहित्रभावे दौहित्रस्यैव धनाधिकारः। 'दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवदि' (मनु० ९-१३०) ति मनुवचनात्,

न तु वन्ध्या-विधवादुहित्रोः, स्वसत्तया, स्वजन्यसत्तया च पार्वणपिण्डदानाभावात्।

अत एव नारदः—

पुत्राभावे च दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात्। ना० १३-५० ॥ १०॥

पौत्र-दौहित्रयोस्तु सद्भावे पौत्रस्यैवाधिकारः, पुत्रेण परिणीतादुहितुर्बाधात्-बाधकपुत्रेण बाध्यदुहितृपुत्रबाधस्य न्याय्यत्वात् ॥ ११ ॥ उक्तानान्तु सर्वेषां दौहित्रपर्यन्तानामभावे वन्ध्या-विधवयोरपि मातृधनाधिकारिता, तयोरपि तत्प्रजात्वात्, प्रजाभावे चान्येषामधिकारात् ॥ १२ ॥ यत्तु दुहितृमात्राधिकारार्थं **गौतमवचनम्**—

'स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानाञ्च'। गौतम० २८-२२ ॥

यच्च नारदस्य 'मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितृणां तदन्वयः। ना० १३-२ ॥

यच्च कात्यायनस्य—

दुहितृणामभावे तु रिक्थं पुत्रेषु तद्भवेत्'।

यच्च याज्ञवल्क्यस्य—

मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः॥ याज्ञ २,११८ इति।

तानि पूर्वोक्तदेवलादिवचनविरोधेन यौतकद्रव्यविषयाणि ॥ १३ ॥

२—समं स्यादश्रुतत्वादिति १०,३,५३। पूर्वपक्षसूत्रं, सिद्धान्तसूत्रस्यैकदेशोऽयं दर्शनाद्विशेष्यस्येति, अतो विशेषस्येति संपातायातमिति बोध्यम्।

†—वचनम्—'सामान्यं पुत्रकन्यानामिति'न्यायः-किञ्चेत्यादिना युक्तिरिति च बोध्यम्।

अतएव मनुः—

मातुश्च यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः, मनु० ६,१३१ ॥ १३ ॥

यौतकम्—परिणयनलब्धम् । यु मिश्रण इति धातोर्युत इतिपदं मिश्रतावचनम्, मिश्रता च स्त्री-पुरुषयोरेकशरीरता । विवाहाच्च तद्भवति, 'अस्थिभिरस्थीनि, मांसैर्मांसानि, त्वचा त्वचमिति' श्रुतेः । अतो विवाहकाले लब्धम् यौतकम् ॥ १४ ॥

अतएव वसिष्ठः—

'मातुः पारिणाय्यं स्त्रियो विभजेरन्' । वसिष्ठ ध० १७,४० ।

पारिणाय्यम्-परिणयनलब्धं धनम् ॥ १५ ॥

यत्तु मनुवचनम्—

'स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन ।

ब्राह्मणी तद्धरेत् कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्' ॥ मनु० ६,१६८ ।

अत्र 'पित्रा दत्तमि'ति विशेषणात्, विवाहसमयादन्यत्रापि यत् पितृदत्तम्, तत् कन्याया एवेत्येतदर्थम् । ब्राह्मणीपदञ्चानुवादः ।

यद्वा ब्राह्मणीपदस्य चानर्थक्यभयात् क्षत्रियादिस्त्रीणामनपत्यानां पितृदत्तं धनं सपत्नीदुहिता ब्राह्मणीकन्या हरेत्, न पुनरप्रजास्त्रीधनं भर्तुरि'तिवचनावकाश इति वचनार्थः, अन्यथा सकलवचनानामसामञ्जस्यं स्यात् । ॥१६॥ न च वाच्यं नारदादिभिर्दुहितुरभावे दुहितुः पुत्राणामेव धनाधिकारोः दर्शितः, प्रत्यासन्नदुहितृपदेनैवान्वयपदस्यान्वयादिति, यतो दुहितृपदस्य जन्यविशेषपरत्वेन जनकाकाङ्क्षितत्वात् ॥१७॥ न जन्यान्तरेणान्वयपदोपात्तेन पुत्रेणान्वयः संभवति, समत्वात् । न चाधिष्ठानलक्षणयान्वयो वाच्यः, मात्रन्वयेनैव सर्वेषां मुख्यत्वसम्भवात् । मातृपदान्वये च दुहितृपदस्य मुख्यत्वस्वीकारात् ॥१८॥ न च तदन्वय इति तच्छब्दोपात्ताया दुहितुरन्वययोग्यता वाच्या, तच्छब्दस्यापि प्रकृतवाचितया दुहितृत्वरूपेणैवोपपादकत्वात् ॥ १६ ॥

किञ्च याज्ञवल्कयवचने 'दुहितरः' इति पदं प्रथमान्तम्, ताभ्य इति पदञ्च पञ्चम्यन्तम्, अन्वयपदेन षष्ठ्यन्तान्वययोग्येन नान्वीयते, किन्तु व्यवहितमपि मातुरित्येव पदमन्वयि, तदत्र मातुरन्वये निश्चिते नारद-कात्यायनवाक्येऽपि मातुरेवान्वयो न्याय्यः, अविरोधात् ॥२०॥ किञ्च, 'सत्स्वङ्गजेषु तद्गामी ह्यर्थः भवती' बौ० ध० सू० २-५ ति बौधायनवचनानुसारेणानन्तर्याच्चाऽङ्गजस्य पुत्रस्याधिकारो न्याय्यः, नानङ्गजस्य व्यवहितदौहित्रस्याधिकारः ॥२१॥ ततश्च परिणयनलब्धस्त्रीधनम् दुहितुरेव, न पुत्राणाम् । तत्रैव च क्रमार्थम् गौतमवचनं

'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानाञ्च' ॥२२॥ प्रथममप्रत्तानाम्, तदभावे प्रत्तानाम्, तदभावे च समूढानाम्, स्त्रीधनम् दुहितॄणामिति सामान्यतः प्राप्तत्वात्। अप्रत्तानामित्यादेस्तु क्रमार्थत्वेनोपसंहारार्थत्वात् ॥ २३ ॥

तथा च याज्ञवल्क्यः—

'अप्रजास्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्म्यादिषु चतुर्ष्वपि ।
दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्' ॥२४॥ याज्ञ० २-१४६ ।

ब्राह्म्यादिषु विवाहेषु यल्लब्धमध्यग्नि धनं स्त्रियाः, तस्यां मृतायां प्रथमम् दुहितॄणामेव, तत्रापि प्रथमं कन्यायाः, तदभावे प्रत्तायाः, तदभावे परिणीतायाः, सर्वदुहित्रभावे च पुत्रस्याधिकारः, अप्रजःस्त्रीधने भर्तुरधिकारात् ।२५। बृहस्पतिना तु अप्रत्तापदेन अप्रत्ताद्यभावे समूढाया अप्यधिकारः सूचितः। ॥२६॥ न च यौतकमात्रधनाभिप्रायेण नेदं वचनम्, किन्तु ब्राह्म्यादिविवाहेन विवाहिताया यद् यावद्धनं यौतकम्, अयौतकं वा । तदभिप्रायेणेति वाच्यम्, बन्धुदत्तमितिवचनस्य (याज्ञ० २-१४५) निर्विषयतापत्तेः, मनुविरोधाच्च ।

यदाह—

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्धनम् ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥
यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अतीतायामप्रजायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ मनु० १९६,१९७ ।

'अस्याः स्याद्दत्तमिति' पराधीनं पूर्वत्रानुषज्यते, तेन विवाहेषु यद्धनम् दत्तमिति सम्बन्धात् वैवाहिकधनमात्रप्रतीतेर्न यावद्धनविषयम् ॥ २७ ॥

तथा यमः—

'आसुरादिषु यद्द्रव्यं विवाहेषु प्रदीयते' ।

विवाहक्रियायां [1]'पूर्वापरीभूतायां यद्द्रव्यं प्रदीयत इति यौतकधनमात्रगोचरत्वमेव प्रतीयते ॥ २८ ॥ न च विवाहात् पूर्वं परतो वा स्त्रिया लब्धस्याप्रजः स्त्रीधनस्य गतेरश्रूयमाणत्वात् ब्राह्म्यादिपदं स्त्रीपरमिति वाच्यम्, पूर्वापरलब्धस्य विस्तरेण [†]गतेर्वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २९ ॥

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ—
धर्मरत्नान्तर्गते दायभागे चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयः परिच्छेदस्समाप्तः ।

---

१. पूर्वापरीभूतायाम्-नान्दीश्राद्ध-सप्तपदी गमनपर्यन्तायामित्यर्थो बोध्यः ।

†. यौतकेतरधनविषये भर्तृसत्त्वेऽपि भ्रात्राद्यधिकारस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः ।

(तृतीयः परिच्छेदः)

सम्प्रति अप्रजस्त्रीधनाधिकारिणः कथ्यन्ते ॥ १ ॥

तत्राह याज्ञवल्क्यः—

'अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि' ॥२॥ (याज्ञ० २-१४६)

ब्राह्मः आदिर्येषां चतुर्णाम्, ते दैवार्षप्राजापत्यगान्धर्वाश्चत्वारो ब्राह्मेण सह पञ्च भवन्ति, "ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येष्वि" (मनु० ९-१९६) ति मनुना पञ्चानामुक्तत्वात् । तेषु विवाहेषु वर्तमानेषु यद्धनं स्त्रिया लब्धम्, तद-प्रजायामतीतायां भर्तुरेव भवतीति । प्रजा—सन्ततिः ॥ ३ ॥ न पुनर्ब्राह्मादिना परिणीताया यत् यावद्धनं विवाहात् पूर्वं परतो वा तया लब्धम्, तत् सर्वं भर्तुरिति व्याख्यानं युक्तम् । ब्राह्मादिष्विति कालार्थत्वात् निर्देशस्य, ब्राह्मा-दिपदानां स्त्रीपरत्वे एकत्वेन षष्ठ्या च निर्देशः स्यात्, यत्त्वस्याः स्यादिति स्त्रिया एकत्वेन षष्ठ्या च निर्दिष्टत्वात् । विवाहकाले लक्षणायाञ्च वर्तमान-सम्बन्धेन लक्षणा स्यात्, स्त्रीपरत्वे चातिक्रान्तविवाहक्रियासम्बन्धेन लक्षणा जघन्या, सा चायुक्ता, न च विवाहितस्त्रीवाचकत्वं ब्राह्मादिपदानाम्, तत्त-ल्लक्षणविवाहपरत्वेन मन्वादिभिर्निर्दिष्टत्वात् ।

तदाह मनुः—

'अष्टाविमान् समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधते'त्युपक्रम्य ।
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ॥ (मनु० ३-२१) इत्यादि ।

तथा नारदः—

'अष्टौ विवाहा वर्णानां संस्कारार्थं प्रकीर्तिताः ।
ब्राह्मस्तु प्रथमस्तेषाम्' (नारद १२-३९) इत्यादि ॥

तथा विष्णुः—

'अष्टौ विवाहा भवन्ति ब्राह्मो दैवः' (विष्णु २४-१८) इत्यादि ॥४॥

अतो विवाहकाललब्धस्त्रीधनविषयं ब्राह्मादिवचनमिति विश्वरूपोक्त[१]-मादरणीयम् ॥ ५ ॥ आसुरादिविवाहसमयलब्धन्तु स्त्रीधनं जीवत्यपि भर्तरि माता गृह्णीयात्, तदभावे पिता, 'मातापित्रोस्तदिष्यते' इत्यत्र क्रमावगतेः युगपदधिकारे पित्रोरित्येवाभिदध्यात्, कन्याधने च मातुरभावे पितुरधिकार-श्रवणात् । अत्रापि तथात्वस्यैवोचितत्वात् ॥ ६ ॥

---

१. बालक्रीडायामिति शेषः ।

तथा बौधायनः--

रिक्थं मृतायाः कन्याया गृह्णीयुः सोदराः स्वयम्।
तदभावे भवेन्मातुस्तदभावे भवेत् पितुः ॥ ७ ॥

तदनेन कन्याधनं व्याख्यातम् ॥ ८ ॥ न च कन्याधन इवात्रापि प्रथमम् भ्रात्रधिकारः स्यादिति वाच्यम्, वचनाभावात्, मातापित्रोरेवाधिकार-श्रुतेः ॥ ६ ॥ यत् पुनः परिणयानन्तरं पितृ-मातृ-भर्तृकुलात् स्त्रिया लब्धम् धनम्, तद् भ्रातृणामेव।

तदाह याज्ञवल्क्यः—

'बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च।
अप्रजायामतीतायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥१०॥ (याज्ञ० २-१४५)

बन्धुदत्तमिति मातापितृभ्यां, यद्दत्तम्। अत एव तत्पुत्राश्च भ्रातरः-बान्धवाः ॥ ११ ॥

तदाह वृद्धकात्यायनः--

'पितृभ्याञ्चैव यद्दत्तं दुहितुः स्थावरं धनम्।
अप्रजायामतीतायां भ्रातृगामि तु सर्वदा' ॥

अप्रजस्त्वमात्रनिमित्तत्वेन भ्रातुरधिकारावगतेः ॥ १२ ॥ सर्वदापदेन ब्राह्मादिपैशाचान्तविवाहिताया अप्रजसो धनं भ्रातृगाम्येव भवतीति विश्वरूपोक्तमादरणीयम् ॥ १३ ॥ स्थावरपदाद्दण्डापूपन्यायादेवापरस्य धनस्य सिद्धिः ॥ १४ ॥ बन्धुदत्तपदेन कन्यादशायां यत् पितृभ्यां दत्तम्, तदुच्यते, विवाहात् परतो लब्धधनस्यान्वाधेयपदेनोपात्तत्वात् विवाहकालीने च भर्तुः पित्रोर्वाऽधिकारात् ॥ १५ ॥

अन्वाधेयमाह कात्यायनः—

'विवाहात् परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुलात् स्त्रिया।
अन्वाधेयं तदुक्तन्तु लब्धं बन्धुकुलात्तथा' ॥ १६ ॥

भर्तृकुलात्-श्वशुरादेः। बन्धुकुलात्-पितृ-मातृकुलात् ॥ १७ ॥

तथाऽपरमाह--

ऊर्ध्वं लब्धन्तु यत् किञ्चित् संस्कारात् प्रीतितः स्त्रियाः।
भर्तुः सकाशात् पित्रोर्वा अन्वाधेयन्तु तद् भृगुः ॥ १८ ॥

शुल्कमाह—

गृहोपस्करवाह्यानां दोह्याभरणकर्मिणाम्।
मूल्यं लब्धन्तु यत् किञ्चित् शुल्कं तत् परिकीर्तितम् ॥ १६ ॥

गृहादिकर्मिभिः—शिल्पिभिस्तत्कर्मकरणाय भर्त्रादिप्रेरणार्थं स्त्रियै यदुत्कोचदानम्, तत् शुल्कं, तदेव मूल्यं, प्रवृत्त्यर्थत्वात् ॥ २० ॥

व्यासोक्तं वा यथा—

यदा नेतुं भर्तृगृहे शुल्कं तत् परिकीर्तितम् ॥ २१ ॥

भर्तृगृहगमनार्थमुत्कोचादि यद्दत्तम्, तच्च ब्राह्मादिष्वविशिष्टं तदेवमादिकमप्रजःस्त्रीधनं भ्रातरो गृह्णीयुः ॥ २२ ॥ न पुनरासुरादिषु विवाहेषु यत् कन्याभ्यः शुल्कदानम्, तदभिप्रायम्। आसुरमात्रगोचरत्वात् तच्छुल्कस्य।

यथोक्तं **याज्ञवल्क्येन**—

आसुरो द्रविणादानाद् गान्धर्वः समयान्मिथः।
राक्षसो युद्धहरणात् पैशाचः कन्यकाच्छलात् ॥२३॥ (याज्ञ० १-६१)

अतो राक्षसादौ शुल्काभावात् शुल्कसाहचर्येणासुरादिष्वेव यद्धनम्, तन्मात्रस्य भ्रातृगामित्वाभिधानं हेयम्। तथा तस्य स्त्रीधनत्वाभावाच्च पित्रादिगृहीतधनस्य च शुल्कत्वेन कीर्तनात्।

तथा **मनुः**—

'न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णन् हि शुल्कं लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी' ॥ (मनु० ३-५१)

पितेत्युपलक्षणम्, तेन भ्रात्रादिरपि धनं गृह्णन् शुल्कग्राही, तेन पित्रादिगृहीतमेव परं शुल्कं भवतीत्युक्तम् ॥ २४ ॥ अतो यदुक्तम्--आसुर एव शुल्करूपस्त्रीधनसम्भवात् तदेकवाक्योपात्तयोर्बन्धुदत्तान्वाधेययोरप्यासुरविवाहगोचरयोरेव भ्रातुरधिकारः--इति निरस्तम् ॥ २५ ॥ किन्तूक्तशुल्करूपस्त्रीधनस्य सर्वविवाहेष्वेव सम्भवात् सर्वत्रैव भ्रात्रधिकारः, वाक्यात् विशेषानवगमात् ॥ २६ ॥

तथा गौतमवचनमपि कात्यायनवचनसमानार्थम्। यथा 'भगिनीशुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः पितुश्च पूर्वं चैके, (गौ० २२-२३) ॥ २७ ॥ अस्यार्थः-प्रथमं सोदर्याणाम्, तेषां पुनरभावे मातुः, तदभावे पितुः, पूर्वं चैक इति परमतम् ॥ २८ ॥ अतः प्रथमं सोदराणां तदभावे मातुः, मातुरभावे पितुः, एषां पुनरभावे तद्धनं भर्तुः। कात्यायनः 'बन्धुदत्तन्तु बन्धूनामभावे भर्तृगामि तत्' ॥ २९ ॥ बन्धूनामभाव इत्यनेन भ्रातुरभाव इत्यपि सूचितम्। भ्रातुरभावे पित्रोरधिकारात् दण्डापूपन्यायात् तत्सिद्धेः ॥ ३० ॥ भर्तृपर्यन्ताभावे पुनरिदमुच्यते।

यदाह बृहस्पतिः—

'मातुःस्वसा मातुलानी पितृव्यस्त्री पितृष्वसा ।
श्वश्रुः पूर्वजपत्नी च मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः ।।
यदासामौरसो न स्यात् सुतो दौहित्र एव वा ।
तत्सुतो वा धनं तासां स्वस्रीयाद्याः समाप्नुयुः' ।। ३१ ।।

औरसपदेन पुत्र-कन्ययोरुपादानम्, तयोः सर्वापवादकत्वात् । सुतपदेन च सपत्नीपुत्रस्य[1] ।

'सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुरि ।।' (मनु० ९-३२) ति स्मृतेः ।

न तु सुतपदमौरसविशेषणम्, वैयर्थ्यात् । सपत्नीपुत्रसद्भावेऽपि स्वस्रीयाद्यधिकारापत्तेश्च ।३२। औरसपुत्र-कन्ययोः, सपत्नीपुत्रस्य चाभावे दौहित्रस्याधिकारिता ।।३३।। तत्सुत इति तच्छब्देन स्वपुत्र-सपत्नीपुत्रयोरुपादानम्, तेन तत्पुत्रयोरधिकारः, न तु दौहित्रपुत्रस्यापि, तस्य पिण्डदाने वहिर्भावात् ।३४। तदेषां पुत्रादीनां भ्रात्रादिभर्तृपर्यन्तानाञ्चाभावे सत्स्वपि श्वशुर-भ्रातृ-श्वशुरादिषु सपिण्डेषु, भगिनीपुत्रादीनामधिकारिता, अनन्यगतेर्वचनात् । स्त्रीणां मातृतुल्यत्वप्रतिपादनेनामीषां पुत्रतुल्यत्वज्ञापनेन पिण्डदातृत्वसूचनस्य दायभागप्रकरणे धनाधिकारज्ञापनैकप्रयोजनकत्वात् ।। ३५ ।।

तत्र स्वस्रीयाद्या इति वचनात् भगिनीसुत-स्वभर्तृभागिनेय-देवरपुत्र-भ्रातृ-श्वशुरपुत्र-भ्रातृसुत-जामातृ-देवराणां पूर्वपूर्वस्याभावे परपरस्याधिकारे देवरस्यैव सर्वशेषेऽधिकारापत्तेर्महाजनविरोध इति वस्तुबलमालम्ब्य वचनं वर्ण्यते ।

तत्र मनुना 'त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते' (मनु ९-१८६) इति दायभागप्रकरणे कीर्तनात् याज्ञवल्क्येनापि 'पिण्डदोंऽशहरश्चैषामि'ति (याज्ञ० २-१३३) पिण्डदानेनाधिकारदर्शनात् पुत्रस्यापि सातिशयपिण्डदानेन नरकत्राणकारणतया मुख्यभावेनाधिकारावगतेः ।

"मातुलो भागिनेयस्य स्वस्रीयो मातुलस्य च ।
श्वशुरस्य गुरोश्चैव सख्युर्मातामहस्य च ।।
एतेषां चैव भार्याभ्यः स्वसुर्मातुः पितुस्तथा ।
श्राद्धदानन्तु कर्तव्यमिति वेदविदां स्थितिः ।।"

इति वृद्धशातातपवचनात् ।। ३६ ।। अमीषां पिण्डदत्वप्रतिपादनात् ।

1. उपादानमिति शेषः ।

पिण्डदानक्रमेणाधिकारक्रमवर्णनम् ।

अयं पिण्डदानविशेषादधिकारक्रमः—प्रथमं देवरः तत्पिण्ड-तद्भर्तृ पिण्ड-तद्भर्तृ देयपूर्वपुरुषत्रयपिण्डदातृत्वात्, सपिण्डत्वाच्च तद्धनेऽधिक्रियते। तदभावे भ्रातृश्वशुरदेवरयोः सुतः तत्पिण्डतद्भर्त्तृ देयपूर्वपुरुषद्वयपिण्डदातृत्वात्. सपिण्डत्वाच्च पितृव्यस्त्रीधनेऽधिकारी। तदभावे त्वसपिण्डोऽपि भगिनीपुत्रः. तत्पिण्ड-तत्पुत्रदेय-तत्पित्रादिपिण्डत्रयदानात् मातृस्वसृधनेऽधिकारी। तदभावे स्वभर्त्तृभागिनेयः, पुत्रात् भर्तुर्दुर्बलत्वात् ततस्थानपातिनोरपि तथैव बलाबलस्य न्याय्यत्वात्, तद्भर्तृदेयपूर्वपुरुषत्रयपिण्डदानात् ततपिण्डदानात् तद्भर्तृ पिण्डदानाच्च मातुलानीधनेऽधिकारी, तदभावे भ्रातृसुतः तत्पितृपितामहयोस्तस्याश्च पिण्डदानात् पितृस्वसृधनेऽधिकारी। तस्याप्यभावे श्वशुरयोः पिण्डदानात् जामाता श्वश्रूधनेऽधिकारीति ॥३७॥ अयं क्रमो ग्राह्यः। स्वस्त्रीयाद्या इति तु न क्रमार्थम्। किन्त्वधिकारिमात्रज्ञापनार्थपरम् ॥ ३८ ॥ षण्णां पुनरेतेषामभावे श्वशुर-भ्रातृ-श्वशुरादेः सपिण्डानन्तर्यक्रतो धनाधिकारो बोद्धव्यः ॥ ३९ ॥ न च सपिण्डाभावे सतीदं वचनमिति वाच्यम्। अस्यामधिकारिशृङ्खलायां देवर-देवरसुतयोः भ्रातृश्वशुरसुतस्य चाधिकारज्ञापनात्, आसन्नतरश्वशुरादेः परित्यागात् ॥ ४० ॥ अतो वचनार्थापरिज्ञानकृतो व्यवहारः[१] प्रमाणपरतन्त्रैरतन्त्रीकर्तव्यः ॥ ४१ ॥ इत्यतिगहनमुक्तमप्रजःस्त्रीधनम् ॥ ४२ ॥

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्नान्तर्गते दायभागे चतुर्थे तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः।
चतुर्थोऽध्यायश्च समाप्तः।

१—अनेन मिताक्षराकृन्मतं निरस्यतीति बोध्यम्।

वचनार्थापरिज्ञानेति — उक्तमनु-याज्ञवल्क्यवचनयोस्तात्पर्यार्थपरिज्ञानकृतः इत्यर्थः। 'स्वस्त्रीयाद्या' इति पाठक्रमेणाधिकारव्यवहार इति।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सम्प्रति विभागानधिकारिणः कथ्यन्ते तत्पर्युदासेनाधिकारिज्ञापनार्थम्। तत्रापस्तम्बः 'सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनो [1]द्रव्यमर्हन्ति' यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति, ज्येष्ठोऽपि तमभागं कुर्वीत' (आ. प. २-६-१४, १४-१५) इति। इदम् [2]बालेनाकुलीकृत्य पठितम्—यस्तु धर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठस्तं भ्रातृसमभागं कुर्वीतेति। तदनाकरम्। तथा अपपात्रितस्य रिक्थपिण्डोदकानि निवर्तन्ते, अपपात्रितः—भिन्नोदकीकृतः ॥ ३ ॥

तथा बृहस्पतिः—

'सवर्णाजोऽप्यगुणवान्नार्हः स्यात् पैतृके धने।
तत्पिण्डदाः श्रोत्रिया ये तेषां तदभिधीयते ॥

उत्तमर्णाधमर्णेभ्यः पितरं त्रायते सुतः।
अतस्तद्विपरीतेन नास्ति तेन प्रयोजनम् ॥

तया गवा किं क्रियते या न धेनुर्न गर्भिणी।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ॥
शास्त्रशौर्यार्थरहितस्तपोविज्ञानवर्जितः।
आचारहीनः पुत्रस्तु मूत्रोच्चारसमस्तु सः ॥ ४ ॥

[3]आपस्तम्बस्यायमर्थः—पित्रादेरौर्ध्वदैहिकस्य कर्मणः, "असंस्कृतः सुतः श्रेष्ठः," नागरो वेदपारगः" इति ॥५॥ पुन्नाम्नो नरकात् यस्मात् त्रायते पितरम् सुतः। (मनु० ९-१३१, विष्णु १५-४३) इत्यादिवचनेन पुत्रकर्तृकतया महाफलश्रुते*स्तत्कर्म वेतनम्-धनसम्बन्धित्वम्। अतस्तदकुर्वतः कुतो वेतनम्।

---

१. इत्थन्तु सूत्रे न दृश्यते, दायभागस्यादर्शकोशेषु दर्शनात् मूले निवेशितमिति ध्येयम्।

२. बालेन—तन्नाम्ना निबन्धकारेणेत्यर्थः।

३—आपस्तम्बवचनस्येत्यर्थः।

४—असंस्कृतः—अनुपनीत इत्यर्थः।

* महाफलश्रुतेरित्यनन्तरं, महानिष्टनिवारण श्रुतेश्चेत्यपि ज्ञेयम्।

अतएवाह मनुः—

'सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्'। (म० ९-२१४) ॥६॥

तथा—

'अनंशौ क्लीब-पतितौ जात्यन्ध-बधिरौ तथा।
उन्मत्त-जड़-मूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः'। (मनु० ९-२०१) ॥७॥

क्लीबश्च कात्यायनेन दर्शितः—

'न मूत्रं फेनिलं यस्य विष्ठा चाप्सु निमज्जति।
मेढ्रश्चोन्माद-शुक्राभ्यां हीनः क्लीबः स उच्यते' ॥ ८ ॥

जातिपदमन्ध-बधिराभ्यां सम्बध्यते, वर्णानुच्चारकः—मूकः, वेदग्रहणासमर्थोः-जडः ॥ ९ ॥

तदाह याज्ञवल्क्यः—

'पतितस्तत्सुतः क्लीबः पङ्गुरुन्मत्तको जड़ः।
अन्धोऽचिकित्स्यरोगार्तो भर्तव्यास्ते निरंशकाः' ॥ (याज्ञ० २-४१)

पद्भ्यां न गच्छतीति पङ्गुः ॥ १० ॥ निरंशकत्वेऽपि पतित-तत्सुतव्यतिरिक्ता भर्तव्याः।

तदाह देवलः—

'मृते पितरि न क्लीबकुष्ठ्युन्मत्तजड़ान्धकाः।
पतितः पतितापत्यं लिङ्गी दायांशभागिनः॥
तेषां पतितवर्जेभ्यो भक्तवस्त्रं प्रदीयते।
तत्सुताः पितृदायांशं लभेरन् दोषवर्जिताः' ॥

लिङ्गी—प्रव्रजितादिः, ॥ ११ ॥ पतितपदेन तत्सुतस्याप्युपादानम्, पतितोत्पन्नत्वेन पतितत्वात्। तदाह बौधायनः—"अतीतव्यवहारान् ग्रासाच्छादनैर्विभृयुः। अन्ध-जड़-क्लीब-व्यसनि-व्याधितादींश्च। अकर्मिणः। पतित-तज्जातवर्जम्" (बौ० ध० २-२-३८-४१) ॥ १२ ॥

तत्र नारदः—

'पितृद्विट् पतितः षण्ढो यश्च स्यादौपपातिकः।
औरसा अपि नैतेंऽशं लभेरन् क्षेत्रजाः कुतः' ॥ (ना० १३-२१) ॥१३॥

आह कात्यायनः—

'अक्रमोढ़ासुतश्चैव सगोत्राद् यस्तु जायते।
प्रव्रज्यावसितश्चैव न रिक्थं तेषु चार्हति' ॥ १४ ॥

हीनवर्णस्त्रीपरिणयनानन्तरं उत्तमवर्णस्त्रीपरिणयने द्वयोरप्य-

क्रमोढ़ात्वम्, तयोः सगोत्रात् नियुक्तादुत्पन्नः क्षेत्रजः पुत्रो नार्हति धनम्, अक्रमोढ़ायामपि सवर्णेन परिणेत्रा उत्पादितः पुत्रो धनाधिकारी, क्रमोढ़ायामसवर्णजातोऽपि ॥ १५ ॥

तदाह **कात्यायनः**—

'अक्रमोढ़ासुतस्त्वृक्थी सवर्णश्च यदा पितुः ।
असवर्णप्रसूतश्च क्रमोढ़ायाश्च यो भवेत् ॥

प्रतिलोमप्रसूतो यस्तस्याः पुत्रो न रिक्थभाक् ।
ग्रासाच्छादनमात्रं तु देयं यद्बन्धुभिर्मतम् ॥
बन्धूनामप्यभावे तु पित्र्यं द्रव्यं तदाप्नुयात् ।
स्वपित्र्यं तद्धनं प्राप्तं दापनीया न बान्धवाः ॥' ॥ १६ ॥

अस्ति च क्लीबादीनां दारपरिग्रहः—

'यद्यर्थिता तु दारैः स्यात् क्लीबादीनां कथञ्चन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति (म० ९।२०३) ॥

तन्तुः—अपत्यम् ॥१७॥ न चापुंस्त्वात् क्लीबस्य जननासामर्थ्यात्, अध्ययनाभावात् मूकादेरुपनयनाभावेन पतितत्वात् कथं दारसम्बन्ध इति वाच्यम्; क्लीबस्य पत्न्यामन्येन पुत्रोत्पादसम्भवात् । उपनयनानर्हस्यानुपनीतत्वे शूद्रवदपतितत्वात् ॥ १८ ॥ तेनैतेषां यथासम्भवमौरस-क्षेत्रजाः क्लीबत्वादिशून्याः स्वपित्रनुसारेण भागहारिणः । दुहितरश्च परिणयनं यावद्भर्तव्याः, अपुत्राश्च स्त्रियः यावज्जीवम् ।

यदाह **याज्ञवल्क्यः**—

'औरस-क्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः ।
सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावन्न भर्तृसात्कृताः ॥
अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः ।
निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च' ॥ १९ ॥

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायजीमूतवाहनस्य कृतौ
धर्मरत्नान्तर्गते दायभागे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

(प्रथमः परिच्छेदः)

सम्प्रति विभाज्यम्, अविभाज्यश्चोच्यते ।

तत्र **कात्यायनः**—

पैतामहञ्च पित्र्यञ्च यच्चान्यत् स्वयमर्जितम् ।
दायादानां विभागे तु सर्वमेतद्विभज्यते ॥ १ ॥

यच्चान्यदिति चकारः स्वयमित्यनेन सम्बध्यते । स्वयञ्चार्जितमिति चकारादन्यस्यापि तदर्जनं साधारणधनद्वारेणेत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुपघातोपात्तमविभाज्यमाहतुर्मनु-विष्णू—

'अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति' ॥ ३ ॥
(मनु० ९-२०८ । विष्णु १८-४२ ।)

पितृद्रव्योपघाताभावेन द्रव्यद्वारेण नेतरेषां व्यापारः, स्वचेष्टालब्धत्वेन शारीरोऽपि व्यापारो नेतरेषामिति, अर्जकस्यैव तदसाधारणम्, स्वयमीहितलब्धं तदिति हेतुत्वेनोपन्यासात् ॥ ४ ॥

तथा च **व्यासः**—

'अनाश्रित्य पितृद्रव्यं स्वशक्त्याऽऽप्नोति यद्धनम् ।
दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यालब्धन्तु यद्भवेत्' ॥ ५ ॥

स्वशक्तिमात्रेण यत् प्राप्तमिति सामान्येनाभिधानात् । सर्वमेवंविधम् स्वीयमसाधारणं द्रव्यम् ॥ ६ ॥ स्वीयम् स्वधनश्रममात्रार्जितमसाधारणम् भ्रात्रन्तरैरविभाज्यम् ॥७॥ स्वशक्तिप्राप्तस्यापि विद्याधनस्य समाधिकविद्यैः साधारणत्वात् न्यूनविद्याविद्यनिराकरणार्थं विद्यालब्धपदम् ।

तथा **याज्ञवल्क्यः**—

'पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम् ।
मैत्रमौद्वाहिकञ्चैव दायादानां न तद्भवेत्' ॥ (याज्ञ० २-११९।८।)

मैत्रादिग्रहणं प्रदर्शनार्थम्, एवमादिषु प्रायेणानुपघातसम्भवात् ॥ ९ ॥

तथा **मनुः**—

'विद्याधनन्तु यद् यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मंत्रमौद्वाहिकञ्चैव माधुपर्किकमेव च' ॥ (मनु० ९-२०६) ॥१०॥

तथा **व्यासः**—

'विद्याप्राप्तं शौर्यधनं यच्च सौदायिकं भवेत् ।
विभागकाले तत्तस्य नान्वेष्टव्यं स्वरिक्थिभिः' ।। ११ ।।

सुदायः-पितृ-पितृव्यादिभ्यः सम्बन्धिभ्यः प्रसादादिना लब्धम्, सौदायिकम् ।। १२ ।।

तथा **नारदः**—

'शौर्यभार्याधने हित्वा यच्च विद्याधनं भवेत् ।
त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः ।।' (ना० १३-६)।।१३।।

भार्याप्राप्तिकाले लब्धं भार्याधनम्, औद्वाहिकमित्यर्थः । 'एतानि वर्जयित्वा अन्यद्विभजेदित्यनुवर्तते वाक्यान्तरीयम् ।। १४।। तदेवमादिभिः शौर्यादिधनत्वमविभाज्यत्वे कारणं नोच्यते, शौर्याद्यर्जितस्यापि विभागश्रुतेः ।

तथा **व्यासः**—

'साधारणं समाश्रित्य यत्किञ्चिद्वाहनायुधम् ।
शौर्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिनः ।।
तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः ।'

साधारणद्रव्येणार्जितस्य धनस्य विभागं वदति ।

तथा **नारदः**—

कुटुम्बं विभृयाद्भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः ।
भागं विद्याधनात्तस्मात् स लभेताश्रुतोऽपि सन् ।। (ना० १३-१०)।१५

विभृयादित्येकवचननिर्देशात् यदि विद्यामभ्यस्यतो भ्रातुः कुटुम्बमपरः भ्राता स्वधनव्यय-शरीरायासाभ्यां संवर्धयति, तदा तद्विद्योपार्जितधने तस्याप्यधिकारः ।। १६ ।। यत्पदोपात्तस्य कुटुम्बभर्तुः कर्तृत्वात् तद्विशेषणस्य एकत्वस्य विवक्षितत्वेन वित्तार्जकधनव्यावृत्त्या स्वीयासाधारणधनलाभः, साधारणधनेन न लाभः साधारणधनेन भवने तु वित्तार्जकधनस्यैव तदुपयोगे स्वधनस्यैव वित्तार्जनोपयोग इति भावः ।। १७ ।।

'तथा—

वैद्योऽविद्याय नाकामो दद्यादंशं स्वतो धनात् ।
पित्र्यं द्रव्यं समाश्रित्य न चेत्तेन तदर्जितम्' ।। (ना० १३-११) ।।१७।।

पित्र्यपदं साधारणधनपरम् । तदनाश्रित्यार्जितं वैद्योऽविद्याय अनिच्छन्न

---

१. शौर्यभार्याधने, विद्याधनम्, प्रसादलब्धधनञ्चाविभाज्यानि, एतानि हित्वाऽन्यद्विभजेदिति वचनार्थः ।

दद्यात्, वैद्याय विदुषे पुनः साधारणमन्तरेणाप्यर्जितं दद्यादेव ॥ १८ ॥

तथा गौतमः—

'स्वयमर्जितमवैद्येभ्यो वैद्यः कामं न दद्यात् ।' (गौ. ध. २२-२८) ।१९।

असाधारणधनशरीरव्यापारर्जितम्-स्वयमर्जितम् अविद्वद्भ्यो दातुमनिच्छन् न दद्यात्, विद्वद्भ्यः पुनर्दद्यादेव ॥ २० ॥ एतच्च विद्याधनमात्रविषयम् ।

तदाह कात्यायनः—

'नाविद्यानान्तु वैद्येन देयं विद्याधनं क्वचित् ।
समविद्याधिकानान्तु देयं वैद्येन तद्धनम्' ॥ २१ ॥

*तन्त्रोच्चरितं विद्यापदमुभाभ्यां समाधिकपदाभ्यां सम्बध्यते, तेन समविद्याधिकविद्यानां दातव्यम्, न्यूनविद्याविद्ययोः पुनरनधिकारः ॥ २२ ॥ तदेवमादिवचनैर्विद्याशौर्यादिधनेष्वपि साधारणधनोपघातानुपघाताभ्यां विभागाविभागयोरवगमात् तस्यैव प्रयोजकत्वात्, तत्पदवत्येव श्रुतिः कल्पनीया—उपघातार्जितं विभजेदिति, न पुनः शौर्यादिपदवत्यपि, अवश्यकल्पनीयसामान्यश्रुतिकल्पनयैवोपपत्तेः ॥ २३ ॥ [1]होलाकाधिकरणन्यायस्यायमेव विषयः ॥ २४ ॥

यद्वा न्यायप्राप्त एवायमर्थः, यद् येनार्जितम्, तत्तस्मिन् जीवति तस्यैव असति विशेषवचने । यत्र पुनः साधारणधनमात्रेणैकस्य व्यापारः, अपरस्य धन-शरीराभ्याम्, तत्रैकस्यैको भागः, अपरस्य भागद्वयं न्यायावगतमेव निबद्धम् ।

एतेन चैतदपि सिध्यति—यत् साधारणधनोपघाते सति यस्य यावतः अंशस्य स्वल्पस्य, महतो वोपघातः, तस्य तदनुसारेण भागकल्पना कार्या ।२५।

---

* तन्त्रोच्चरितम्—सकृदुच्चरितमित्यर्थः ।

१. होलाकाधिकरणन्यायस्य स्वरूपम्—होलाका नाम फाल्गुनपौर्णमास्यां क्रियमाणः वसन्तोत्सवः । आन्हीनैबुकादय—दाक्षिणात्यैः क्रियमाणं स्वस्वकुलागतं करञ्जार्कादिस्थावरदेवतापूजनम् । उद्वृषभयज्ञः—उदीच्याः ज्येष्ठमासस्य पौर्णमास्यां बलीवर्दानभ्यर्च्य धावयन्ति, सोऽयमुद्वृषभयज्ञः । तान् देशधर्मानुदाहृत्य विचारः कृतः । तथाहि—किं यत्राचारो यस्समुपलभ्यते, तैरेव कर्तव्यः, अथवा सर्वैरेव कर्तव्य इति संशयः । येषु दृश्यते, तैरेव कर्तव्यः, न सर्वैरिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु सर्वैरेव कर्तव्यः । प्राच्यादिशब्दानामर्थानुगभावात् । पाणिनिनाऽनेकेस्वर्थेषु तद्धितस्य विधानात् । अतः प्राच्यादिपदरहितैव श्रुतिः कल्पनीया—इति । तेन न्यायेनेत्यर्थः ।

किञ्च कात्यायनवचनम्--

'विभक्ताः पितृवित्ताच्चेदेकत्र प्रतिवासिनः ।
विभजेयुः पुनर्द्व्यंशं स लभेतोदयो यतः' ॥ २६ ॥

इदं संसृष्टस्य साधारणधनोपघातेनार्जकस्य भागद्वयम्, इतरेषामेकैकः भाग इति श्रीकरेण व्याख्यातम् ॥ २७ ॥ तेनानुपघातार्जितमर्जकस्यैव धनं संसृष्टत्वेऽपि न पुनस्तद्धनं साधारणमित्यभिप्रायो '[1]मुनेर्व्याख्यातुश्च[2]' लक्ष्यते, अनुपघातार्जिते भागविशेषानभिधानात् ॥२८॥ एवञ्चेत् संसृष्टवदविभक्तस्यापि तथात्वमेव युक्तम्, विभागप्रागभावे, तत्प्रध्वंसेऽपि, एकत्र प्रतिवासस्य हेतोरविशेषात् साधारणधनोपघातार्जितेऽर्जकस्य भागद्वयमिति ज्ञापनार्थत्वेन वचनस्याप्युपपत्तेः । न केवलं संसृष्टविषयत्वं युक्तम्, [3]होलाकाधिकरणस्यात्रैव जागरूकत्वात् ॥ २६ ॥ किञ्चोपघातार्जितेऽर्जकस्य भागद्वयमिति तावन्निर्विवादम् ।

'साधारणं समाश्रित्य यत्किञ्चिद्वाहनायुधम्,
शौर्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिनः ।
तत्र भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः' ॥

इत्यनेनोपघात एव भागद्वयस्य विधानात्, असाधारणधन-शरीरव्यापारार्जिते तु न भागद्वयं न्याय्यम्, किन्त्वधिकम्[4], [5]सर्वमेव वा, किञ्चिदूनम् वा, तत्र किञ्चिदूनस्य मुनिभिः, निबन्धृभिश्चानुक्तत्वात् । साधारणधनव्यापारेण भ्रात्रन्तरस्य भागदर्शनात्, तद्भावे भागाभाव एव युक्तः ॥ ३० ॥ द्विरर्जयितुरित्येतस्य च न्यायमूलत्वमेव युक्तम्, अन्यथा श्रुतिकल्पने अर्जकत्वानुप्रवेशः वा पृथग्वाधिकारी कल्पनीयः स्यात् ॥३१॥ तस्मादनुपघातार्जितमर्जकस्यैव, नेतरेषामिति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

श्रीकरमतस्यानुवादः ।

किञ्चाविभक्तार्जितम्—सर्वे विभजेयुरिति न तावत् सामान्येन वचनं कल्पनीयम्, शौर्यादिधने पर्युदासदर्शनात् ।

---

१. मुनेः—कात्यायनस्य । २. व्याख्यातुः-श्रीकरस्य ।

३. वसन्तोत्सवो होलाका, तदनुष्ठानाय कल्प्यमाना होलाकाकर्तृकयेति श्रुतिः प्राच्यादिपदशून्यैव कल्प्यते, तथा साधारणधनोपघातेनार्जिते- अर्जको द्व्यंशंगृह्णीयादित्येव कल्प्यते, न त्वर्जकविशेषणतया संसृष्टपदवतीत्यर्थः ।

४. किन्त्वधिकम्—भागद्वयाधिकमित्यर्थः । ५. तस्यैव द्वैविध्यमाह—सर्वमेव वेति ।

तथा मनुः—

'विद्याधनन्तु यद् यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्रमौद्वाहिकञ्चैव माधुपर्किकमेव च' (मनु ९-२०६ ।)

तथा मनु विष्णू—

'अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत् ।
स्वयमीहितलब्धन्तन्नाकामो दातुमर्हति' ॥ ३३ ॥
(मनु विष्णु ९-२०२ । ७२-४२)

अनुपघ्नन्निति विद्यादिधनेऽपि सम्बध्यते, सत्युपघाते विभागवचनदर्शनात् ॥ ३४ ॥

तथा याज्ञवल्क्यः--

'पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम् ।
मैत्रमौद्वाहिकञ्चैव दायादानां न तद्भवेत् ॥
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमभ्युद्धरेत्तु यः ।
दायादेभ्यो न तद्द्याद्विद्यया लब्धमेव च' (याज्ञ० २-११९-१२० ॥)-

तथा नारदः--

शौर्यभार्याधने हित्वा यच्च विद्याधनं भवेत् ।
त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः' ॥ (नारद १३-६ ॥)

तथा व्यासः--

'विद्याप्राप्तं शौर्यधनं यच्च सौदायिकं भवेत् ।
विभागकाले तत्तस्य नान्वेष्टव्यं स्वरिक्थिभिः' ॥ ३५ ॥
[1]सौदायिकम्–सुदायः–सम्बन्धिभ्यो यल्लब्धम् ॥ ३६ ॥
'पितामहेन यद्दत्तं पित्रा वा प्रीतिपूर्वकम् ।
तस्य तन्नापहर्तव्यं मात्रा दत्तञ्च यद्भवेत्' ॥
'अनाश्रित्य पितृद्रव्यं स्वशक्त्याप्नोति यद्धनम् ।
दायादेभ्यो न तद्द्यात् विद्यालब्धञ्च यद्भवेत्' ॥ ३७ ॥

---

१. सुदाय एव सौदायिकम् । विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् । स्वार्भिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽन्निगवत्रनान्यति वर्तन्ते इति न्यायात् सौदायिकशब्दस्य नियतनपुंसकलिंगता इति बोध्यम् ।

तन्निरासः—

तदेवमादिवचनैर्यविद्वर्णा-[१]वर्णान्तरालानाम्, सङ्कीर्णजातानाम्, सकलविद्यानिमित्तस्य, सौदायिकस्य च स्वजनदत्तस्य च, तथा मित्र-विवाह-मधुपर्कप्राप्तस्य, शौर्येण च युद्धादिना प्राप्तस्य कृषि-सेवा-वाणिज्यादिना च श्रमेणोपार्जितस्य, अनुपघातेनच स्वशक्तिमात्रार्जितस्य पर्युदासात्, सर्वमेव पर्युदस्तमिति, तदितरामावात् निर्विषयो विधिः। अथ यथाकथञ्चिदेको, द्विको वा, विषयो लभ्यते; तदा तदेव स्वपदेन निर्देष्टुमुचितं मुनीनाम्, अविभक्तार्जितममुकधनं विभजेदिति, लाघवात् स्वपदात् शीघ्रप्रतीतेश्च ॥ ३८ ॥

श्रीकरमते बाधकमभिधाय, स्वमते लाघवप्रदर्शनम्।

न तु शौर्यादिधनेतरतया, बहुतरपदप्रयोगापत्त्या गौरवात्, पर्युदासत्वे च, सर्वमुनिभिरेव सकलपर्युदसनीयपदानुकीर्तनं कर्तव्यं, तद्विना तदितरज्ञानानुपपत्तेः, मुनीनां पर्युदासवचनं बालप्रत्नपितमिव स्यात्, प्रदर्शनार्थत्वे तु अनास्थया केनचित् किञ्चित् कीर्तितम्, केनचिच्च किञ्चिदिति युक्तम् सर्वस्याकीर्तनम् ॥ ३९ ॥ तस्मात् साधारणधनोपघातार्जितं धनं विभजेदिति विधिः, शौर्यादिपदञ्च वाक्येषु प्रदर्शनार्थम् ॥ ४० ॥ अतोऽविभक्तार्जितत्वमात्रेण धनस्य साधारणत्वाभिधानमप्रामाणिकम् ॥ ४१ ॥

किञ्च—

'क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमभ्युद्धरेत्तु यः।
दायादेभ्यो न तद्दद्यात् विद्यया लब्धमेव च ॥' २–११९

अत्र याज्ञवल्क्यवचनेऽपि, पितृपितामहादिधनमपि केनचिदपहृतम् योऽभ्युद्धरेत्, तस्यैव तत्, नान्येषामिति भवतोऽपि सम्मतं, तेन पूर्वसम्बन्धलेशे सत्यपि, अविभक्तानामप्यभ्युद्धारकत्वेन, तत्र सम्बन्धं निराकुर्वन्नपूर्वत्वेन स्वार्जिते सुदूरमेवान्येषां सम्बन्धं निरस्यति ॥ ४२ ॥

श्रीकरमतानुवादः

यच्चोक्तं श्रीकरेण यदि पितृद्रव्यानुपघातार्जितमर्जकस्यैव, तदा प्रतिग्रहोपात्तं धनं न कदाचित् भ्रात्रन्तरस्य भवेत्, नहि प्रतिग्रहः पितृद्रव्यविनाशेन सम्भवति, द्रव्यं हि दातुरानमनमुखेन प्रतिग्रहे उपयुज्यते एकहायन्यादिकमिव सोमक्रये, कर्तृशरीरधारणेन वा पयोव्रतादिकमिव ज्यो-

१. वर्णा ब्राह्मणादयश्चत्वारः, वर्णान्तरालः—अम्बष्ठकरणादयः, संकीर्णजाता रथकारादयः।

तिष्टोमे। तत्र तावददृष्टार्थे दाने द्रव्यान्तरग्रहणेन न दातुरानतिरपेक्षितेति, न दात्रानत्या द्रव्यमुपयुज्यते, प्रतिग्रहस्य चाल्पकालीनत्वात्, न तत्कर्तुर्भोजनमपेक्षितं दीर्घकालीनज्योतिष्टोमेनेव स्वर्गकर्तुरिति ॥ ४३ ॥

तन्निरासः।

तन्मन्दम्—दापकानत्यर्थमुपहारप्रदानादिना धनोपघातस्य लोके बहुलमुपलम्भात्, कलौ च प्रतिग्रहधनस्य सेवाधनसमानत्वात्। अतएव 'कलौ [1]त्वनुगमान्विते' इति स्मरन्ति ॥ ४४ ॥

यच्च चिरावस्थितेर्व्यभिचारात् न प्रतिग्रहकारणत्वमानतेः, अतः आनतिद्वारा न प्रतिग्रहार्थत्वं द्रव्यस्येत्युक्तम्। तन्मन्दतरम्। आनतिद्वारेण चिराश्रयणादीनां प्रतिग्रहकारणत्वात् पुरुषस्याशयवैचित्र्येण कस्यचिद्धनदानेन कस्यचिच्चिराश्रयणादिना कस्यचित्तत्तद्गुणानुसन्धानमात्रेण दर्शनात् सहकार्यभावेन कार्यानुत्पत्तेर्नाकारणता। अतएवोक्तम् 'आनतेरनियतोपायपरिणामत्वादि'ति ॥ ४५ ॥

यदप्युक्तम्—अथ तत्सन्निधिमन्तरेणप्रतिग्रहस्यासम्भवात् भोजनमन्तरेण। च तदयोगात् तस्यां स्थितौ व्याप्रियमाणं धनं प्रणाल्या प्रतिग्रहं निष्पादयतीति, तदा ज्योतिष्टोमादिकर्मणः प्राचीनमपि भोजनं शरीरस्थितौ व्याप्रियमाणं प्राचीनशरीरस्थितिमन्तरेण ज्योतिष्टोमाद्यनिष्पत्तेः प्रणाल्या ज्योतिष्टोमार्थमिति सर्वमेव भोजनं क्रत्वर्थं स्यात्, न पुरुषार्थम्, तथा च तत्साधनमपि द्रव्यं क्रत्वर्थं स्यात्, तदर्जनोपायोऽपि क्रत्यर्थः स्यादिति पुरुषार्थत्वम् द्रव्यार्जनस्य, द्रव्यस्य भोजनस्य च हीयेत—इति ॥ ४६ ॥

तन्मन्दतमम्—प्रणाल्या ज्योतिष्टोमोपकारकत्वेऽपि भोजनस्य साक्षात् तृप्त्यर्थत्वात्, पुरुषार्थस्यैव सतः क्रतूपकारकत्वात् तत्रैदमर्थ्ये प्रमाणाभावात्, उपकारकत्वस्य तादर्थ्यव्यभिचारात्। अतः कथं द्रव्यार्जनस्य, द्रव्यस्य भोजनस्य च क्रत्वर्थत्वमापद्यत इति ॥ ४७ ॥

अतएवास्यापि पर्यनुयोगस्यानवकाशः—यदि द्रव्यस्य प्राचीनभोजनद्वारा प्रतिग्रहोपकारकत्वमिष्यते, तदा जन्मत आरभ्य भोजनं विना शरीरावस्थितेरभावात्, नार्जनं सम्भवतीति सर्वं एव धनोपायः पितृद्रव्यविनाशेन

१–कृते तु दीयते गत्वा त्रेतायामाहुताय वै।
द्वापरे याचमानाय कलौत्वनुगमान्विते, इति समग्रं पद्यं बोध्यम्।

स्यात्। अतोऽ'नुपघ्नन् पितृद्रव्यमि'ति विशेषणं न स्यादिति। यतो विशेषणानर्थक्यादेव भक्षणाद्युपभोगोपयुक्तधनोपघातादन्यस्यैवोपघातादिरूपस्य वचनार्थत्वात्॥ ४८॥

किञ्च भक्षणाद्युपभोगार्थधनोपघातस्य गृहगतेनाप्यवश्यंकर्तव्यवात् न धनार्जनार्थत्वमुपघातस्य तादर्थ्यमेव च तत्प्रयोजकमिति नातिप्रसक्तिः॥४९॥ अतएवोक्तं विश्वरूपेण, पितृद्रव्यं दत्वा यदि नोपार्जितं धनम्, तदा तस्यैव असाधारणं वैवाहिकवदेवोक्तम्, न तु भक्षणाद्युपभोगमात्रेण तस्य स्तन्यपानादितुल्यत्वादित्यन्तेन॥५०॥ अतएव पुत्रोपनयन-विवाहयोः सोत्सुकसव्ययपितृकृतबहुतरधनव्ययेऽपि न व्रतभिक्षादिलब्धस्य वैवाहिकस्य वा साधारण्यम्, धनप्रेप्सया धनव्ययस्याकृतत्वात्॥५१॥ तस्माद्धनोद्देशेनैव साधारणधनोपघातेनार्जितं साधारणम्, नान्यदिति सिद्धम्॥ ५२॥

जितेन्द्रियेणापि बहुप्रकारं विमृश्योक्तं तदस्य यावदुक्तप्रपञ्चस्य संक्षेपेणायमर्थः प्रत्येतव्यः-यत्किञ्चिद्धनमसाधारणोपायार्जितम्, तदसाधारणम्। विस्पष्टार्थन्तु-विद्याधनन्तु यद् यस्येत्यादिना (मनु ९-२०६) उदाहरणप्रपञ्चेनोपन्यस्तम्, असाधारणत्वादेवाविभाज्यमेवंविधमेव धनं साधारणमपि साधारणहेतुसमुत्थमेवंविधमेव, तदपि सुखावबोधार्थं क्वचिदर्थसाधारण्येन, क्वचिच्च व्यापारतथात्वेन, सम्बन्धसाधारण्येन च प्रदर्शितमित्यन्तेन।

बालकेनाप्युक्तम् ''न ह्येकेन भ्रात्रा विद्यादिना लब्धे' अपरेषामधिकारसम्भवः, प्रमाणाभावादित्यन्तेन, यश्चानुपघातप्रतिग्रहार्जितधनस्य विभागः शिष्टानां दृश्यते, स भ्रातृस्नेहेन, पौरुषबुद्ध्या वा नानुपपन्नः।

यद्वा प्रतिग्रहधनस्य विद्याधनत्वात् विद्याधने च साधारणधनानुपघातार्जितेऽपि समविद्याधिकविद्यानां विभागस्य वाचनिकत्वात् तद्विभागं पश्यन्तः विद्याधनस्य विद्याविशेषकृतोऽयं विभाग इत्यजानन्तोऽविभक्तार्जितत्वेनायं विभाग इति भ्रान्ताः स्वयमपि तथैव व्यवहृतवन्तः, तन्मूलश्चापरापरव्यवहार इति न किञ्चिदनुचितम्।

१—असाधारणधन-शरीरायासाभ्यां यदर्जितम्, तदविभाज्यत्वे पूर्व स्वोक्तार्थे दृढतासिद्धये प्राचीननिबन्धकारयोर्जितेन्द्रिय-बालकयोर्ग्रन्थमुपन्यस्यति-तत्राद्यपक्षे मुनिभिः प्रदर्शितमेव विमृश्योक्त पूर्वेणान्वयो बोध्यः। द्वितीयपक्षस्तु मूल एव विशदः।

२—श्रीकरमतमसंगतमिति भावः।

यत् पुनर्मनुवचनम्—

'यत् किञ्चित् पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ (मनु० ६-२०४)

तस्यायमर्थः—

'पितेव पालयेत् पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः ।
पुत्रवच्चानुवर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ (मनु० ६-२०८)

एतस्माद्वचनात् पितापुत्रवदवस्थानात् पित्रार्जित इवानुपघात-ार्जितेऽपि ज्येष्ठधने कनिष्ठानामधिकारः । एतावान् परं विशेषः—पित्रार्जितेऽविदुषामप्यधिकारः, ज्येष्ठार्जिते पुनर्विदुषामेव, ॥ ५५ ॥ एतच्च पितरि प्रेत इति, ज्येष्ठ इति, यवीयसामिति, विद्यानुपालित इति पद-

प्रयोगस्यानर्थक्यात् सिद्ध्यति ॥ ५६ ॥ तस्मादविभक्तार्जितत्वमात्रेणाविभक्त-भ्रात्रन्तरस्य भवतीत्यसङ्गतं वचनम्[1] ॥ ५७ ॥

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्म-रत्ने दायभागे षष्ठाध्यायस्य प्रथमः परिच्छेदस्समाप्तः ।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

तत्र विद्याधनं तावदभिधीयते ।

तत्र कात्यायनः—

'उपन्यस्ते तु यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् ।
विद्याधनन्तु तद्विद्यात् विभागे न नियोजयेत् ॥
शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात् सन्दिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।
स्वज्ञानशंसनात् वादात् लब्धं प्राध्ययनाच्च यत् ॥
विद्याधनन्तु तत् प्राहुर्विभागे न नियुज्यते ।
शिल्पेष्वपि हि धर्मोऽयं मूल्याद् यच्चाधिकं भवेत् ॥
परं निरस्य यल्लब्धं विद्यया द्यूतपूर्वकम् ।
विद्याधनन्तु तद्विद्यान्न विभाज्यं बृहस्पतिः' ॥ १ ॥

यदि भवान् भद्रकमुपन्यस्यति, तदा भवते मया एतावद्देयमिति पणितम्, तत्रोपन्यासं निस्तीर्य लभते, तन्न विभाज्यम् ॥२॥ शिष्यात्—अध्यापितात् । ॥ ३ ॥ आर्त्विज्यतः—यजमानात् दक्षिणादिना लब्धम् ॥ ४ ॥ दक्षिणा च न प्रतिग्रहः, वेतनरूपत्वात् तस्याः ॥ ५ ॥ तथा यत् किञ्चित् विद्यायाम् प्रश्ने निस्तीर्णे अपणितमपि यदि कश्चित् परितोषात् ददाति ॥ ६ ॥

१. श्रीकरस्य वचनमसंगतमितिभावः ।

तथा यो ह्यस्मिन् शास्त्रार्थे मम संशयमपनयति, तस्मै सुवर्णमिदं ददानीत्युपस्थितस्य संशयमपनीय यल्लब्धम्, वादिनोर्वा सन्देहे न्यायकरणार्थमागतयोः सम्यङ्निरूपणेन यल्लब्धं षष्ठांशादिकम् ॥ ७ ॥ तथा शास्त्रादिषु स्वप्रकृष्टज्ञानं विभाव्य यत् प्रतिग्रहादिना लब्धम् ॥८॥ तथा द्वयोः शास्त्रविज्ञानविवादे अन्यत्रापि यत्र कुत्र चिदन्योन्यज्ञानविवादे निर्जित्य यल्लब्धम् ॥९॥ तथैकस्मिन् देये बहूनामुपप्लवे, येन प्रकृष्टमधीत्य यल्लब्धम् ॥ १० ॥ तथा शिल्पादिविद्यया चित्रकरसुवर्णकारादिभिर्लब्धम् ॥११॥ द्यूतेनापि परं निर्जित्य यल्लब्धम्; तत् सर्वमविभाज्यमितरैः ॥ १२ ॥ तदयमर्थो यया कयाचिद्विद्यया यल्लब्धमर्जकस्यैव तत्—नेतरेषाम्, प्रदर्शनार्थं तु कात्यायनेन विस्तरेणोक्तं श्रीकरादिभ्रमनिरासार्थम् ॥ १३ ॥ अतः स्वज्ञानख्यापनादिना यत् प्रतिग्रहलब्धम्, तदपि विद्याधनमेव विद्ययैव विदुषे प्रतिग्रहदानात् ॥ १४ ॥

तथा यम:—

'विद्याशीलो धर्मयुक्तः प्रशान्तः क्षान्तो दान्तः सत्यवादी कृतज्ञः ।
वृत्तिग्लानो गोहितो गोशरण्यो दाता यज्वा ब्राह्मणः पात्रमाहुः' ।

'अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
नैषां प्रतिग्रहो देयो न शिला तारयेच्छिलाम्' ॥ १५ ॥

विद्वत्तयैव पात्रत्वात्, अविदुषाञ्चापात्रत्वात् ॥१६॥ अतो यत्केनचिदुक्तम् विद्याधनन्तु विद्याध्यापननिमित्तं यत्, तदुच्यते इति, तत् उक्तवचनादर्शनेनेति[1] हेयमेव । विद्याशब्दस्य विदज्ञान इत्यस्माद्धातोर्निष्पत्तेः ज्ञानवचनात् ॥ १७ ॥

यच्च प्रतिग्रहधनस्यापि विद्याधनत्वेन याजनाध्यापनप्रतिग्रहाणां सङ्कीर्णत्वमापादितं श्रीकरेण । तदतिमन्दम्, विद्याधनत्वसामान्यस्य याजनाध्यापनप्रतिग्रहादिनानाव्यक्तिसम्बन्धेऽपि व्यक्तीनामसङ्कीर्णत्वात्, तदापि याजनाध्यापनस्याप्रतिग्रहत्वात् गोत्वसमवायेऽपि नीलकपिलाकापोतिकादिव्यक्तीनामसङ्कीर्णत्वस्याविवादात् ॥ १८ ॥ अतएव शिष्यादार्त्विज्यतः प्राप्तयोर्विद्याधनत्वं स्मरन् मुनिर्याजनाध्यापनयोः सङ्करात् कथं न विभेति । अतः पक्ष[2] ग्रहणमात्रेण तदभिधानमिति हेयम् ॥ १९ ॥ शौर्यादिधनमाह **कात्यायनः**—

'आरुह्य संशयं यत्र प्रसन्नं कर्म कुर्वते ।
तस्मिन् कर्मणि तुष्टेन प्रसादः स्वामिना कृतः ॥

---

१. कात्यायनवचनादर्शनेनेत्यर्थः ।
२. पूर्वपक्षग्रहणमात्रेणेत्यर्थः ।

तत्र लब्धन्तु यत् किञ्चिद्धनं शौर्येण तद्भवेत् ।
ध्वजाहृतं भवेद् यत्तु विभाज्यं नैव तत् स्मृतम् ॥
संग्रामादाहृतं यत्तु विजित्य द्विषतां बलम् ।
स्वाम्यर्थं जीवितं त्यक्त्वा तद्ध्वजाहृतमुच्यते ॥ २० ॥
वैवाहिकन्तु तद्विद्याद्भार्यया यत् सहागतम् ॥ २१ ॥

भार्याप्राप्तिकाले लब्धमित्यर्थः ॥ २२ ॥

तथाऽपरमप्यविभाज्यमाहतुर्मनुविष्णू--

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमप्रचारञ्च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥२३॥ (मनु० ९-२१९)

वस्त्रमङ्गयोजितम्, पंक्तिपरिच्छदार्हञ्च, पत्रम्-वाहनमश्वादि। अलङ्कारम्-अङ्गलीयकादिकम् । कृतान्नम्-लड्डुकादि । उदकं-कूपवापीगतं प्रचारोपयुक्तम् । स्त्रियः-दासीव्यतिरिक्ताः । योगक्षेमप्रचारम्-शय्यासन-भोजनाचमनाद्युपयुक्तभाजनादीनि ॥ २४ ॥

तथा व्यासः—

अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि ।
याज्यं क्षेत्रञ्च पत्रञ्च कृतान्नमुदकं स्त्रियः ॥ २५ ॥

याज्यम्-यागस्थानम्, देवता वा, न तु याजनलब्धं धनम्, तस्य विद्याधनत्वेनैव गतार्थत्वात् ॥ २६ ॥

तथा कात्यायनः—

गोप्रचारश्च रथ्या च वस्त्रं यच्चाङ्गयोजितम् ।
प्रायोज्यं न विभाज्यन्तु शिल्पार्थं तु बृहस्पतिः ॥ २७ ॥

प्रायोज्यं—यद् यस्य प्रयोजनार्हम् यथा श्रुतादौ पुस्तकादि, तत् मूर्खेर्न विभजनीयम्, शिल्पोपयुक्तञ्च शिल्पिनामेव, नातद्विदाम् ॥ २८ ॥

तथा शङ्खलिखितौ--'न वास्तुविभागो नोदकपात्रालङ्कारानुपयुक्तस्त्रीवाससामपां प्रचाररथ्यानां विभागश्चेति प्रजापतिः ॥२९॥ पितरि जीवति यस्मिन् वास्तौ येन गृहोद्यानादिकं कृतं, तत्तस्याविभाज्यं, पितुरप्रतिषेधेनानुमतत्वात् ॥३०॥ तथा पैतामहमपि द्रव्यं यच्चिरं नष्टम्, अक्षमत्वात् । अथवा प्रतीकारपराङ्मुखतया इतरैरप्रतिकृतं पित्रा स्वधनव्ययशरीरायासाभ्याम् प्रतिकृतं, तत् पितुरेव, न साधारणम् ॥ ३१ ॥

तथा मनुः—

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत् पुत्रैर्भजेत् सार्द्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥३२॥ (मनु० ९–२०६)

पैतृकं द्रव्यं पुत्रैरनवाप्तमप्रतिकृतम् । अनवाप्यमिति प्रनवाप्येति पाठावनाकरौ[1] ॥ ३३ ॥

आह बृहस्पतिः—

'पैतामहं हृतं पित्रा स्वशक्त्या यदुपार्जितम् ।
विद्याशौर्यादिना प्राप्तं तत्र स्वाम्यं पितुः स्मृतम् ॥
प्रदानं स्वेच्छया कुर्याद्भोगश्चैव ततो धनात् ।
तदभावे तु तनयाः समांशाः परिकीर्तिताः ॥ ३४ ॥

स्वशक्त्येत्यसाधारणधनशरीरव्यापारं दर्शयति ॥ ३५ ॥ वचनद्वयेऽपि पितृपदमुपलक्षणम्, स्वयमर्जितमिति हेतोरभिधानात् ॥ ३६ ॥ एवञ्च स्वार्जिताक्रमागतद्रव्यवदेव क्रमागतेऽप्येवंरूपे भूमिव्यतिरिक्ते व्यवस्था बोद्धव्या ॥ ३७ ॥ भूमौ तु विशेषमाह शङ्खः—

पूर्वनष्टान्तु यो भूमिमेक एवोद्धरेच्छ्रमात् ।
यथाभागं भजन्त्यन्ये दत्त्वा भागं तुरीयकम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि असाधारणधनशरीरव्यापारमेवकारेण दर्शयति, तथापि उद्धर्तुर्नासाधारण्यम्, किन्तु प्रतिकृतभूमेश्चतुर्थांशोऽधिकस्तस्मै दातव्यः, भूमिपदसामर्थ्यात्, तदविवक्षाकारणाभावात् ॥ ३९ ॥

इति विभाज्याविभाज्यनिरूपणम् ॥ ४० ॥

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने दायभागे षष्ठे द्वितीयः परिच्छेदस्समाप्तः ।

षष्ठोऽध्यायश्च समाप्तः ।

१, अनवाप्येति पाठेऽन्येषु निरस्तेष्वित्यध्याहारः, अनवाप्यमिति पाठे अन्यैरशक्योद्धारमित्यर्थे लक्षणायाः प्रसंगात् सू० इति ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

सम्प्रति विभागानन्तरजातस्य विभागः कथ्यते ।

तत्र **मनु-नारदौ**—

'ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ १ ॥

(मनु० ६-२१६, नारदः १३-४१)

यदि पिता पुत्रान् विभज्य स्वयञ्च यथाशास्त्रं भागं गृहीत्वा, पुत्रैरसंसृष्ट एव मृतः, तदा विभागानन्तरं जातः पितृधनमेव गृह्णीयात् । स एव तस्य भागः, अथ कैश्चित् पुत्रैः सह संसृष्टः पिता मृतः, तदा संसृष्टेभ्यो भागम् गृह्णीयात् ॥२॥ तथाच **गौतमः**—'विभक्तजः पित्र्यमेव ॥३॥ (गौ० २८-२७) । विभागानन्तरं यस्य गर्भाधानम् , स विभक्तजः, विभक्तेन जनितः-गर्भाधाना-दृते जनकस्य जननव्यापाराभावात् । अतो यद्यज्ञातगर्भायामेव स्त्रियां विभक्ताः पुत्राः, तदनन्तरं जातो भ्रातृभ्य एव भागं गृह्णीयात् ॥ ४ ॥ न केवलमेक एव, किन्तु बहवोऽपि विभक्तजाताः पित्र्यमेव धनं गृह्णीयुः ।

यदाह **बृहस्पतिः**—

'पित्रा सह विभक्ता ये सापत्ना वा सहोदराः ।
जघन्यजाश्च ये तेषां पितृभागहरास्तु ते ।
अनीशः पूर्वजः पित्र्ये भ्रातृभागे विभक्तजः ॥ ५ ॥'

विभागात् पूर्वं जातः पित्रोः धनेऽनधिकारी, विभक्तजश्च भ्रातृधने ।

तथा—

पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत् स्वयमर्जितम् ।
विभक्तजस्य तत् सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः ॥
यथा धने तथर्णेऽपि दानाधानक्रयेषु च ॥ ६ ॥
सर्वशब्दात् बहुतरमपि धनं पित्रार्जितं विभक्तजस्यैव ॥ ७ ॥
'परस्परमनीशास्ते मुक्ताशौचोदकक्रियाः ॥ ८ ॥'

अशौचोदकक्रियामात्रप्रदर्शनेन सुदूरमेव धनाधिकारं निरस्यति ॥ ६ ॥ इदञ्च पित्रुपात्तधनमात्रविषयम्, यदि तु पैतामहधनमपि भूम्यादिकं विभक्तम्, तदा तद्धनविभागं भ्रातृभ्य एव गृह्णीयात्, मातुर्निवृत्ते रजसि तद्विभागविधानात् ॥ १० ॥

तदाह विष्णुः—

पितृविभक्ता विभक्तानन्तरोत्पन्नस्य विभागं दद्युरिति ।। ११ ।।

(वि० १७।३)

तथा याज्ञवल्क्यः—

'विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् ।
दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात् ।। १२ ।।

(याज्ञ० स्मृ० २-१३)

'पित्र्यमेव हरेद्धनमिति विरोधात्, उक्तयुक्तेश्च । क्रमागतधनविषयमिदम् ॥ १३ ।।

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने दायभागे विभागानन्तरजातस्य विभागनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ विभागानन्तरागतविभागः ।

तत्र बृहस्पतिः—

'कृतेऽकृते विभागे वा रिक्थं यत्र प्रदृश्यते ।
सामान्यश्चेद्भवेद् यत्तु तत्र भागहरस्तु सः ।। १ ।।
ऋणं क्षेत्रं गृहं लेख्यं यस्य पैतामहं भवेत् ।
चिरकालप्रोषितोऽपि भागाभागागतस्तु सः ।
गोत्रसाधारणं त्यक्त्वा योऽन्यदेशं समाश्रितः ।।
तद्वंशस्यागतस्यांशः प्रदातव्यो न संशयः ।
तृतीयः पञ्चमश्चैव सप्तमो वापि यो भवेत् ।।
जन्मनामपरिज्ञाने लभेतांशं क्रमागतम् ।। २ ।।
यं परम्परया मौलाः सामन्ताः स्वामिनं विदुः ।
तदन्वयस्यागतस्य दातव्या गोत्रजैर्मही' ॥ ३ ।।

तदनेन चिरप्रोषितवंश्येन समन्ताद्वासिभिर्मौलैरात्मज्ञापनपूर्वकं भागग्रहणं कार्यम् ।। ४ ।। इति विभागानन्तरागतविभागः ।। ५ ।।

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने दायभागे विभागानन्तरागतविभागनिरूपणपरः अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

———

अथ नवमोऽध्यायः

सम्प्रत्येकपितृकाणां सवर्णानुलोमपरिणीतस्त्रीजातानां पुत्राणां विभागः कथ्यते ॥ १ ॥ अस्ति च सवर्णानुलोमस्त्रीपरिणयनम्।

तथाच **मनुः**—

'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञः स्युस्ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः' ॥ २ ॥

(मनु० ३।१२-१३)

शूद्रैवेत्येवकारः सर्वत्र सम्बध्यते, **सा ते ता** इत्यनन्तरपूर्वोक्तपरामर्शात् प्रतिलोमपरिणयनं न कार्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥ **'कामतस्तु प्रवृत्तानामिति** दोषाल्पत्वख्यापनार्थम्, न तु दोषाभाव एव ॥४॥ तदाहतुः **शङ्खलिखितौ**— "भार्याः कार्याः सजातीयाः श्रेयस्यः सर्वेषां स्युरिति पूर्वः कल्पः। ततोऽनुकल्पाः चतस्रो ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण, तिस्रो राजन्यस्य, द्वे वैश्यस्य, एका शूद्रस्य ॥५॥ जात्यवच्छेदेन चतुरादिसङ्ख्या सम्बध्यते ॥ ६ ॥ एताः परिणीता एव भार्या भवन्ति।

तथाह **पैठीनसिः**—

"चतस्रो ब्राह्मणस्य परिणीताः तिस्रः, द्वे चेका चेतरेषाम् ॥ ७ ॥ इतरेषाम्–राजन्यादीनां यथाक्रमं तिस्रः द्वे, चैका चेति" ॥८॥ आनुलोम्येऽपि द्विजातेः शूद्रायां बहुदोषमाहतुर्**मनुविष्णू**—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥
शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः॥
शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ ९ ॥

(म० ३।१५-१६-१७)

तदनेन क्रमोढ़ाविषयत्वं वचनानाम्, हारितवचनमपि मन्वाद्येकवाक्यतया परिणीताविषयम्। यथा—

ब्रह्महा न भवत्यन्यो ब्रह्महा वृषलीपतिः।
यस्तस्यामाहितो गर्भः स तेन ब्राह्मणो हतः।

अतएव शूद्रावर्जं द्विजातिभार्य्यामाह **शङ्खः**—

ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिता॥
क्षत्रिया चैव वैश्या च क्षत्रियस्य प्रकीर्तिता।
वैश्यैव भार्या वैश्यस्य शूद्रा शूद्रस्य कीर्तिता॥ १०॥

अतः स्वयमनूढायां शूद्रायामपत्यजनने नैते दोषाः, किन्तु स्वल्पदोषः प्रायश्चित्तञ्चाल्पमिति वक्ष्यति॥ ११॥ अत्र चातुर्वर्ण्यविभागमाह **मनुः**—

"त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः।
वैश्याजस्सार्द्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥
सर्वं वा रिक्थजातन्तु दशधा परिकल्प्य तत्।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित्॥
चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः।
वैश्यापुत्रो हरेद्‌द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥ १२॥

(मनु० ९।१५१, १५२, १५३)

किञ्चिद्‌गुणवत्त्वेन विभागप्रकारद्वयम्॥ १३॥

तत्र **विष्णुः**—

'ब्राह्मणस्य चतसृषु चेत् पुत्रा भवेयुरित्यादि' (विष्णु १८-१)
अनेन क्रमेणांशकल्पना अन्यत्रापि भवतीत्यन्तम्॥ १४॥

(वि० १८-४०)

ब्राह्मणजातो राजन्यापुत्र एव यदि जन्मना सर्वज्येष्ठो गुणवांश्च, तदा ब्राह्मणेन सह तुल्यभागः कार्यः, ब्राह्मणेन, क्षत्रियेण वा जातो वैश्यश्चेत्तद्रूपः, तदा क्षत्रियेण सह तुल्यांशः।

यथाह **बृहस्पतिः**—

'विप्रेण क्षत्रियाज्जातो जन्मज्येष्ठो गुणान्वितः।
भवेत् समांशः क्षत्रेण वैश्याजातस्तथैव च'॥

तथा **बौधायनः**—'सवर्णापुत्रानन्तरापुत्रयोरनन्तरापुत्रश्चेद् गुणवान्, सः ज्येष्ठभागं गृह्णीयात्, गुणवान् हि शेषाणां भर्ता भवतीति॥ १५॥ (बौ० ध० सू० २०-३-१२)। अनेनैव शूद्रस्याप्येवंविधस्य वैश्येन सह समांशिता दर्शिता॥ १६॥ या तु प्रतिग्रहेण पित्रार्जिता भूमिः, सा ब्राह्मणीपुत्रस्यैव, न क्षत्रियादेः गृहं क्रमागतं क्षेत्रञ्च द्विजातिपुत्राणामेव, न शूद्रस्य।

तदाह **बृहन्मनुः**—

ब्रह्मदायागतां भूमिं हरेयुर्ब्राह्मणीसुताः ।
गृहं द्विजातयः सर्वे यथा क्षेत्रं क्रमागतम् ॥१७॥

क्रमादागतयोः पितामह-प्रपितामहादिगृहीतयोः सकलद्विजातिसम्बन्धः, क्रमागतमित्यविशेषेणाभिधानात् । प्रतिग्रहभूमौ च क्षत्रियादिसुतानामेव अधिकारनिषेधेन तन्नप्त्रादीनामप्यननुज्ञानम् ॥ १८ ॥

तदाह **बृहस्पतिः**—

'न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै ।
यद्यप्यस्य पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥'

एवञ्च प्रतिग्रहभूमिरेव ब्रह्मदायागतेत्युक्तम् । ब्रह्म-वेदः, तदध्ययन-तदर्थज्ञानवत्तया प्रतिग्रहविधानात् ॥ १९ ॥ न पुनर्मनूक्तार्चनलब्धा ।

यथा—

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष विधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ (मनु० ७-८२)

अर्चनरूपत्वादस्य ॥ २० ॥

अथवा [1]इयमेकेन निषिद्धा, अन्या परेण ॥२१॥ न तु ब्राह्मणस्य भूमि-र्ब्रह्मदायः द्विजातीनां क्रमागतक्षेत्रसम्बन्धस्य वाचनिकत्वात् । केवलशूद्रस्यैव निषेधाच्च ।

यथा **बृहस्पतिः**—

शूद्राद्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति ।
सजातावाप्नुयात् सर्वमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

भूमिमात्रोपादानात् क्रयप्रसादादिनापि द्विजातिलब्धभूमौ शूद्रस्यानधि-कारः सिद्ध्यति ॥ २३ ॥ यस्तु शूद्र एवैकः पुत्रो ब्राह्मणस्य, स तृतीयभागा-धिकारी, भागद्वयं सपिण्डानाम्, तदभावे सकुल्यानाम्, तदभावे श्राद्धकर्तुः ।

यथा **देवलः**—

निषाद एकः पुत्रस्तु विप्रस्य स तृतीयभाक् ।
द्वौ सपिण्डः सकुल्यो वा, स्वधादाताऽथवा हरेत् ॥ २४ ॥

'ब्राह्मणेन शूद्रायां जातो निषाद उच्यते । सपिण्ड-सकुल्ययोस्तु भेदम् वक्ष्यति ॥ २५ ॥

---

१. इयमर्चनरूपैकेन मनुना निषिद्धा, अपरेण बृहस्पतिना प्रतिग्रहणम् निषिद्धेत्यर्थः ।

क्षत्रियवैश्ययोस्तु यदि शूद्र एवैकः पुत्रः, तदा तद्धनस्यार्द्धहरः, अपरमर्द्धम् वक्ष्यमाणाः पुत्रवनाधिकारक्रमेण गृह्णीयुः।

तथा विष्णुः—

'द्विजातीनां शूद्रस्त्वेकपुत्रोऽर्द्धहरः अपुत्रर्क्थस्य या गतिः, सा अर्द्धस्य द्वितीयस्य ॥ २६ ॥ (विष्णु० १८-३२-३३) इदञ्च तृतीयभागाधिकारित्वम्; अर्द्धहरत्वञ्च विद्या-विनयसम्पन्नस्येति वेदितव्यम्।

यदाह मनुः—

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत्।
नाधिकं दशमाद्दद्यात् शूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ (म.९.१५४,)

अनेन द्विजातिपुत्राभावेऽपि दशमांशाधिकदाननिषेधात् पूर्वस्य उत्तमैकशूद्रापुत्रगोचरत्वमेव ज्ञायते।

यच्च मनुना—

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेद् ॥ (मनु० ९,१५५) इति

अनेन रिक्थभागित्वमेव निषिद्धम्, तत् पितृप्रसादलब्धधनदशमांशत्वे सतीति विज्ञेयम् ॥ २७ ॥

यच्चाह बृहस्पतिः—

अनपत्यस्य शुश्रूषुर्गुणवान् शूद्रयोनिजः।
लभेताजीवनं शेषं सपिण्डाः समवाप्नुयुः ॥

वर्तनोचितकृष्याद्यर्थं किञ्चिद्दातव्यमित्यर्थः। निर्गुणस्य अन्तेवासि-विधिना वृत्तिमूलं भक्तादिकं पादशुश्रूषया देयम्,

यच्चाह मनुः—

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत् सुतम्।
स पारयन्नेवशवस्तस्मात् पारशवः स्मृतः ॥ (मनु० ९-१७८)

तदपरिणीतशूद्रासुताभिप्रायम्, परिणीतायाः सकृद्गतावुपगमनस्य वैधत्वात्, तत्रैव च गर्भस्थितेः, न च द्वितीयादिसम्पर्केष्वपि।

यथा याज्ञवल्क्यः—

अपुत्रे भ्रातरि मृते तान्तु गच्छेद्दतौ सकृत्।

तथा **मनुः**—

यथाविध्युपगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेदाप्रसवात् सकृत् सकृदृतावृतौ ।। (मनु० ९,१७०)

प्रथमोपगमनमात्रस्य गर्भहेतुत्वे सकृद्वचनं दृष्टार्थं स्यात्, अन्यथाऽदृष्टार्थत्वमस्य कल्पनीयम्, अतएव लोकेऽपि प्रथमसम्पर्कदिवसमादाय मङ्गलाचारार्थं नियतमासविहितपुंसवनसीमन्तोन्नयनाद्यर्थञ्च मासगणना दृश्यते, अतः कामादुत्पादयेत् सुतमित्यनूढाशूद्राभिप्रायमेव ।।२८।। शूद्रस्य पुनरपरिणीतदास्यादिशूद्रापुत्रपितुरनुमत्या पुत्रान्तरतुल्यांशहरः ।

तदाह **मनुः**—

"दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः" ।।२९।। (मनु० ९,१७९)

अनुमतिमन्तरेण त्वर्द्धांशहरः ।

तदाह **याज्ञवल्क्यः**—

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत् ।
मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्द्धभागिनम् ।। ३० ।। (२,३४)

परिणीतास्त्रीजातो भ्रातृशून्यस्तु सर्वमेव धनं गृह्णीयात्, यदि दौहित्रः नास्ति ।

तदाह **याज्ञवल्क्यः**—

अभ्रातृको हरेत् सर्वं दुहितॄणां सुतादृते ।। (२,१३५)

सति तु दौहित्रे समं विभज्य गृह्णीयात्, विशेषाश्रवणात्, तथाह्यपरिणीताजातत्वेऽप्यस्य पुत्रत्वात्, अपरस्य तु परिणीतासन्तानत्वेऽपि दौहित्रत्वात् तुल्यांशस्यैव युक्तत्वात् ।। ३१ ।।

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ
धर्मरत्ने दायभागे नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

———

अथ दशमोऽध्यायः

पुत्रिकौरसयोर्विभागः

सम्प्रति पुत्रिकाकरणानन्तरमौरसपुत्रे जाते तयोर्विभागः प्रतिपाद्यते ॥१॥ तत्र पुत्रिकौरसयोस्तुल्यांशित्वम्, न पुनः पुत्रिकाया ज्येष्ठत्वेन विंशोद्धारार्हता ।

तदाह मनुः—

'पुत्रिकायां कृतायान्तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्यात् ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः' ॥

(मनु० ९,१३४)

स्वतो ज्येष्ठपुत्रकार्याकरणात् स्वपुत्रद्वारेण पुत्रिकायाः पिण्डदातृत्वात् ।

तदाह मनुः—

'अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम्' ।।२।। (मनु० ९,१२७)

न च पुत्रिकायामेव प्रथमं पुत्रे जाते तदनन्तरमौरसपुत्रोत्पत्तौ, पुत्रिकापुत्रस्य ज्येष्ठांशता भवेदिति वाच्यम्, तस्य पौत्रत्वात् ।

तदाह मनुः—

'अकृता वा कृता वापि यं विन्देत् सदृशात् सुतम् ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात् पिण्डं हरेद्धनम् ।। (मनु० ९,१३६)

पुत्रिका हि पुत्रः, तस्याः पुत्रः पौत्र एव भवति, तद्वांश्च पौत्री भवति । न च ज्येष्ठत्वेन पौत्रस्यांशातिरेकः श्रुतोऽस्ति ।। ३ ।।

यत्तु वसिष्ठवचनम्—

'अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥ (व० १७,११६)

पुत्रिकापुत्रस्यैव पुत्रत्वं वदति, तेन पुत्रिकायास्तत्पुत्रस्य च पुत्रत्वम्[१] । तन्न । मनुविरोधात्, पिण्डदानमात्रयोगात् पुत्रत्वमस्य गौणम्, तद्वारेणैव पुत्रिकाया पिण्डदातृत्वाद् एकस्य स्वतः, अन्यस्य तद्योगात्[२] ।। ४ ।। पुत्रिकौरस-

---

१. पुत्रत्वम्—पुत्रव्यपदेशः ।

२. तद्योगात्—पुत्रयोगात् ।

योस्तु सवर्णत्वे सति पूर्वोक्तविभागो बोद्धव्यः असवर्णत्वे तु तयोरसवर्णौरस-पुत्रवदेव विभागः पुत्रिकौरसयोः समानत्वात् ॥ ५ ॥ यदि च कृतापि पुत्रिका पुत्रमनुत्पाद्यैव विधवा भूता, वन्ध्यात्वेन हि वाऽवधृता, तदा तस्याः पितृधने अनधिकारः, स्वधाकरपुत्रार्थं पुत्रिकायाः कृतत्वात्, तदभावे दुहित्रन्तर-तुल्यत्वात् ॥ ६ ॥ औरसेन तु क्षेत्रजादीनां विभागे, ये पितृसवर्णा औरस-पुत्राच्चोत्तमसवर्णाः पुत्रिकापुत्र-क्षेत्रज-कानीन–गूढ़जापविद्ध–सहोढ़ज–पौनर्भव–दत्तक–स्वयमुपागत-कृतक-क्रीताः पुत्राः, ते औरसपुत्रभागस्य तृतियांशभागिनः ।

तदाह द्वादशपुत्रानभिधाय देवलः—

एते द्वादश पुत्रास्तु सन्तत्यर्थमुदाहृताः ।
आत्मजाः, परजाश्चैव, लब्धाः, यादृच्छिकास्तथा ॥
तेषां षट् बन्धुदायादाः पूर्वेऽन्ये पितुरेव षट् ।
विशेषश्चापि पुत्राणामानुपूर्व्या विशिष्यते ॥
सर्वे ह्यनौरसा ह्येते पुत्रा दायहराः स्मृताः ।
औरसे पुनरुत्पन्ने तेषु ज्यैष्ठ्यं न विद्यते ॥
तेषां सवर्णा ये पुत्रास्ते तृतीयांशभागिनः ।
हीनास्तमुपजीवेयुर्ग्रासाच्छादनसम्भृताः ॥ ७ ॥

औरसादयः षट् न केवलं पितृदायहराः, किंतु बन्धूनामपि सपिण्डादीनाम् दायहराः । अन्ये परभूताः पितुरेव परं दायहराः न सपिण्डादीनाम् ॥ ८ ॥ औरसपुत्रशून्यस्य पितुः सर्वहराः, औरसे सति ये पितृसवर्णास्ते तृतीयांश-हराः ॥ ९ ॥ पुत्रिकाया अपि औरसतुल्यत्वादयमेव भागक्रमः ॥ १० ॥ ये तु पितुर्हीनवर्णाः, औरसपुत्राच्चोत्तमवर्णाः, ते औरसस्य पञ्चमं षष्ठं वांशम् गुणवदगुणतया गृह्णीयुः ।

यथा मनुः—

षष्ठन्तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात् पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन् दायं पित्रा पञ्चममेव वा ॥ ११ ॥ इति ।
(मनु० ९-१५४)

देवलवचनेन सर्वेषां क्षेत्रजतुल्यत्वाभिधानात् मनुवचने क्षेत्रजपदमुप-लक्षणम् ॥ १२ ॥ ये तु पितुरौरसाच्च भ्रातुर्हीनवर्णास्ते ग्रासाच्छादनमात्रा-धिकारिणः ।

तदाह मनुः—

'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्' ॥ (मनु० ९. १६३)

तथा कात्यायनः—

'उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः स्मृताः ।
सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभागिनः' ॥ १३ ॥

मनुवचने शेषपदम्, कात्यायनवचने चासवर्णपदं हीनवर्णपरम्, देवलेनैकवाक्यत्वात् ॥ १४ ॥

अनियोगोत्पन्नक्षेत्रजस्यौरसेन सह विभागमाह मनुः—

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरस-क्षेत्रजौ सुतौ ।
यद् यस्य पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥१५॥ (मनु० ९,१६२)

यस्य बीजाद् यो जातः, स तस्य धनं गृह्णीयात्, इतरे अन्यबीजजाताः न गृह्णीयुरित्यर्थः ।

अतएव नारदः—

'द्वौ सुतौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद् यस्य पित्र्यं स्यात् स तद् गृह्णीत नेतरः' ॥ १६ ॥
(मनु० ९,१९१)

यत् पितृदत्तं यद्धनं स्त्रियाः, स्तत्पुत्रस्तद्बीजजस्तद्धनं गृह्णीयात्, नान्यः इत्यस्तु किं विस्तरेण ॥ १७ ॥

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ
धर्मरत्ने दायभागे पुत्रिकौरसयोर्विभागो नाम
दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथैकादशोऽध्यायः

प्रथमः परिच्छेदः

अपुत्रधनविभागः

अथापुत्रस्य मृतस्य धने[1] परस्परविरुद्धवचनदर्शनेन व्याख्यातारः विवदन्ते ॥ १ ॥

तथा बृहस्पतिः—

'आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः ।
शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा ॥
यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति ।
जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात् ॥
सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृ-मातृ-सनाभिभिः[2] ।
असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी ॥
पूर्वं प्रणीताग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम् ।
विन्देत् पतिव्रता[3] साध्वी धर्म एष सनातनः ॥
जङ्गमं स्थावरं हेम कुप्यं धान्यं रसोऽम्बरम् ।
आदाय दापयेच्छ्राद्धं मास-षाण्मासिकादिकम् ॥
पितृव्य-गुरु-दौहित्रान् भर्तुः स्वस्रीय-मातुलान् ।
पूजयेत् कव्य-पूर्ताभ्यां वृद्धानाथातिथीन् स्त्रियः ॥
तत्सपिण्डा बान्धवा वा ये तस्याः परिपन्थिनः ।
हिंस्युर्धनानि तान् राजा चौरदण्डेन शासयेत्' ॥ २ ॥

तदेतैः सप्तवचनैरपुत्रस्य मृतस्य यद् यावद्धनं स्थावर-जङ्गम-हेमादिकम् भर्तुः, तत्सर्वं सोदर-भ्रातृ-पितृव्य-दौहित्रादिषु सत्स्वपि पत्न्या एवेति । ये तु तद्धनग्रहणे प्रतिपन्नाः, स्वयमेव वा गृह्णन्ति । ते चौरवद्दण्डनीया इति ब्रुवाणो बृहस्पतिः पत्नीसद्भावे पितृ-भ्रातृप्रभृतीनां धनाधिकारं सुदूरम् निरस्यति ॥ ३ ॥

---

१. धने—धनाधिकारविषये । २. सकुल्यैः—सनाभिभिरिति तृतीयाद्वयं सप्तम्यर्थे, तेन सकुल्यादिषु सत्सु इत्यर्थः ।

३. पतिव्रता—पतिशुश्रूषणरता बोध्या, न तु—मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रतेत्युक्ता ।

तथा याज्ञवल्क्यः—

'पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।
तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः ।।
एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः' ।।

(याज्ञ० २.१३६.१३७)

अनेन पूर्वपूर्वस्याभावे परपरस्याधिकारं वदन् सर्वेभ्यः पूर्वं पत्न्या एव धनाधिकारमभिधत्ते ।। ४ ।।

तथा विष्णुः[1]—अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि, तदभावे भ्रातृपुत्रगामि, तदभावे सकुल्यगामि, तदभावे बन्धुगामि, तदभावे शिष्यगामि, तदभावे सहाध्यायिगामि, तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजगामि ।। ५ ।। (विष्णु १७-४-१३) अनेनापि क्रमपरेण प्रथमं पत्न्या एवं धनाधिकारो निरूपितः । न च वर्तनोपयुक्तधनमात्राधिकारार्थं पत्नीवचनमिति वाच्यम् । सकृच्छ्रुतस्य धनपदस्य पत्न्यपेक्षमकृत्स्नपरत्वम्, कृत्स्नपरत्वञ्च भ्रात्राद्यपेक्षमिति तात्पर्यभेदस्यान्याय्यत्वात् । अतः कृत्स्नधनगोचर एव पत्न्या अधिकारो वाच्यः ।।६।।

तथा वृद्धमनुः[2]—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ।
पत्न्येव दद्यात् तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ।। ७ ।।

तत्पिण्डमित्यतस्तदित्यनुषज्यते तच्छब्देन भर्तुः परामर्शात् भर्तुः कृत्स्नमंशं पत्नी लभेत, न तु स्वांशकृत्स्नमित्यर्थः । कृत्स्नस्वांशोद्देशेन लभेतेति विधानानुपपत्तेः स्वामिभावज्ञापनार्थत्वादस्य । न च स्वांशे स्वामिभावज्ञापनमर्हति स्वांशज्ञापनेनैव ज्ञातत्वात् ।। ८ ।। न च [3]ग्रहणविधानार्थम् तदिति वाच्यम् । स्वधनग्रहणस्य रागादेव प्राप्तत्वात् ।। ९ ।। न च [4]नियमार्थम्

१. जीमूतवाहनेनोद्धृतविष्णुस्मृतिवचनेभ्यो मुद्रितविष्णुस्मृतौ क्रमभेदो दृश्यते । शिष्यगामीत्यधिको दायभागे इति द्रष्टव्यम् ।
२. मृतस्य कृत्स्नतदंशग्रहणे साधकमुपन्यस्यति वृद्धेति ।
३. ग्रहणम्—यथेष्टविनियोगलक्षणमित्यर्थः ।
४. नियमार्थम्—स्वांशं गृह्णीयादेवेति नियमार्थमित्यर्थः ।

वचनमिति वाच्यम्, अदृष्टार्थत्वापत्तेः[1]। नियमे च [2]नियोज्यादिकल्पनमपि स्यात् ।। १०.।।

यच्चोक्तं न ह्यनन्धादिः पुत्रोंऽशं कृत्स्नं लभेतेत्युक्ते पित्र्यं कृत्स्नमंशमिति, किं तर्हि कृत्स्नं स्वांशमिति। तथात्रापि कृत्स्नं स्वांशापेक्षमिति। तन्न; अनन्धादिः पुत्रोंऽशं कृत्स्नं लभेतेति वचनाभावात्, दृष्टान्तानुपपत्तेः।

भवतु वा, तथापि पूर्वोक्तहेतुना स्वांशं लभेतेति विध्यनुपपत्तेः पित्रंशापेक्षमेव वर्णनं युक्तम् ।। ११ ।।

अत एव सर्वत्रान्यधन एव अन्यस्वत्वसम्बन्धज्ञापनं मुनयः कुर्वन्ति। यथा पितृधने पुत्राणाम्, अपुत्रधने पत्न्यादीनामित्यादि। न पुनः स्वांशग्रहणे प्रेरयन्ति ।।.१२ ।।

यच्च सम्बन्धिशब्दत्वेन स्वसम्बन्ध्युपस्थापकत्वम्। यथा मातेति न परमाताऽवगम्यते इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, अनुपात्तसम्बन्धिविषयत्वात् तस्य, न हि डित्थस्य मातरमानयेत्युक्ते प्रयोज्यस्य माता प्रतीयते, प्रयोजकस्य वा। तद्वदत्रापि तत्पिण्डमिति तत्पदोपात्तत्वात् सम्बन्धिनः कथं पत्न्यपेक्षिता। विधानानुपपत्तिश्च पूर्वमुक्तैव ।।१३।। तस्मात् कृत्स्नतदंशग्रहणमेव पत्न्या वृद्धमनुर्बोधयति ।। १४ ।।

विपरीतवचनानां योजनम्।

[3]तथा पत्न्यधिकारविपरीतबोधकानि वचनानि। यथा शङ्ख-लिखित-पैठीनसि-यमाः। 'अपुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि द्रव्यम्' तदभावे पितरौ हरेताम्, पत्नी वा ज्येष्ठा सगोत्रशिष्यः सब्रह्मचारिणः ।। १५ ।। अत्र भ्रातुरभावे पित्रोः, तयोरभावे पत्न्यधिकार इति विरोधः ।। १६ ।।

तथा देवलः—

'ततो दायमपुत्रस्य विभजेयुः सहोदराः।
तुल्या दुहितरो वापि ध्रियमाणः पितापि वा ॥
सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम्।
एषामभावे गृह्णीयुः कुल्यानां सहवासिनः' ।। १७ ।।

अत्र सर्वादौ भ्रातुरधिकारः, सर्वशेषे च भार्याया इति विरोधः ।। १८ ।।

---

१. अदृष्टार्थत्वापत्तेः—संभवति दृष्टार्थत्वे अदृष्टकल्पनस्य गौरवेणान्याय्यत्वादिति भावः। २. नियोज्यकल्पनादि–यस्तु ममेदं कार्यमित्यवबुध्यते, स नियोज्य इति। पुरुषस्य तिस्रोऽवस्थाः भवन्ति-नियोज्यः, अधिकारी, कर्ता इति। तत्र प्राथमिक्यवस्था नियोज्य इति बोध्यम्। ३. पत्न्यधिकारविपरीतबोधकानां वचसां विरोधपरिहाराय अनुवदति—तथेति।

केषाञ्चिन्मतेन समाधानम्, बृहस्पतिवचनैस्तन्निरासश्च

अत्र[1] केचिदविभक्तसंसृष्टगोचरो भ्रात्रधिकारः प्रथमम्, विभक्तासंसृष्टगोचरश्च पत्न्यधिकार इति समादधति ॥ १९ ॥

तद्बृहस्पतिविरुद्धम्। यदाह—

'विभक्ता भ्रातरो ये च सम्प्रीत्यैकत्र संस्थिताः।
पुनर्विभागकरणे तेषां ज्यैष्ठ्यं न विद्यते ॥
यदा कश्चित् प्रमीयेत प्रव्रजेद्वा कथञ्चन।
न लुप्यते तस्य भागः सोदरस्य विधीयते ॥
या तस्य भगिनी सा तु ततोंऽशं लब्धुमर्हति।
अनपत्यस्य धर्मोऽयमभार्यापितृकस्य च ॥
संसृष्टानान्तु यः कश्चिद्विद्याशौर्यादिना धनम्।
प्राप्नोति तस्य दातव्यो द्व्यंशः शेषाः समांशिनः' ॥ २० ॥

अत्रोपक्रमोपसंहारयोः संसृष्टत्वकीर्तनात् तत्सन्दंशपतितम्, **'न लुप्यते तस्य भागः सोदरस्य विधीयते'** इति वचनं संसृष्टविषयं वाच्यम्। अत्र च **'अनपत्यस्य धर्मोऽयमभार्यापितृकस्य च'**ति पुत्र-दुहितृ-पत्नी-पितॄणामभावे संसृष्टस्य सोदरस्य भ्रातुरधिकारं बोधयतीति, कथं तस्य पत्नीबाधकत्वम् ॥ २१ ॥

किञ्च 'न लुप्यते' इति अविभक्तत्वे संसृष्टत्वे च भ्रात्रन्तरीयद्रव्यमिश्रीभूतस्य द्रव्यस्य पृथगप्रतीतौ लोपाशङ्कायां न लुप्यत इति वचनमुपपद्यते। विभक्तस्यासंसृष्टस्य तु धने विभक्तत्वप्रतीतौ का लोपाशङ्का। तस्मात् संसृष्टविषयत्वमेवामीषां वचनानाम् ॥ २२ ॥

किञ्च पत्न्यादेः पूर्वं भ्रात्रधिकारज्ञापकशङ्खादिवचनानां संसृष्टभ्रातृविषयत्वं वचनाद्वा न्यायाद्वा। तत्र न तावद्वचनात्। विशेषवचनाभावात्, **संसृष्टिनस्तु संसृष्टी**त्यादिवचनानां तु भ्रात्रधिकारावसरे विशेषज्ञापनपरत्वेन भ्रात्रधिकारमात्रपरत्वानुपपत्तेः ॥ २३ ॥ अनन्तरोपन्यस्तबृहस्पतिवचनानाञ्च संसृष्टविषयत्वे पुत्र-दुहितृ-पत्नी-पितृपर्यन्ताभावेसोदरभ्रात्रधिकारज्ञापकत्वात्, तद्विरुद्धत्वादसंसृष्टविषयत्वमेव तावदयुक्तम्, न तु संसृष्टविषयत्वम् ॥ २४ ॥

अथ न्यायादिदमभिधीयते। तथाहि संसृष्टत्वे यदेकस्य भ्रातुर्धनम्, तदपरस्यापि। तत्रैकस्य मरणेन स्वत्वनाशेऽपि जीवतस्तत्र स्वामित्वानपायात् तस्यैव तद्भवति। ननु पत्न्याः, भर्तृमरणेन पत्नीस्वत्वस्यापि नाशात्। यथा

१. विज्ञानेश्वरमतं निरसितुमनुवदति—अत्र केचिदित्यादिना समादधतीत्यन्तेन।

सत्सु पुत्रादिषु न तद्धनं पत्न्या इति ।२५। तन्मन्दम् । नहि संसृष्टत्वेऽपि यदेवैकस्य तदेवापरस्यापि, किन्त्वविज्ञातैकदेशं तत् द्वयोः, न तु समग्रमेव, समग्रत्वकल्पनायां प्रमाणाभावादित्युक्तमादावेव ॥२६॥ परिणयनोत्पन्नं भर्तृधने पत्न्याः स्वामित्वं भर्तृमरणात् नश्यतीत्यत्र च प्रमाणाभावात् । सति तु पुत्रे तदधिकारशास्त्रादेव पत्नीस्वत्वनाशोऽवगम्यते, अत्रापि संसृष्टभ्रात्रधिकारशास्त्रात् तद्विनाशोऽवगम्यत इति चेत्, न, संसृष्टभ्रातृगोचरत्वस्याद्याप्यसिद्धेः। सिद्धे हि भ्रातृसंसृष्टभर्तृमरणेन पत्नीस्वामित्वनाशे भ्रात्रधिकारशास्त्रस्य संसृष्टविषयत्वम्, सति तु तद्विषयत्वे शास्त्रस्य पत्नीस्वामित्वनाश इतीतरेतराश्रयत्वम् ॥२७॥

किञ्च शङ्खलिखितादिवचनानामविभक्तसंसृष्टगोचरत्वे अविभक्तस्य संसृष्टस्य च धनं तद्विधभ्रातृगामि, तस्य तु तथाविधस्याभावे पितरौ हरेतामित्यन्वयो वाच्यः, तदा च विकल्पनीयं, किं विभक्तासंसृष्टौ पितरौ गृह्णीयाताम्, उताविभक्तसंसृष्टौ । तत्र न प्रथमः कल्पः । 'पत्नी दुहितरश्चैव' इत्यादिना विभक्तासंसृष्टयोः पित्रोः पत्नीबाध्यत्वात्, कथं पत्नीतः पूर्वं तयोरधिकारः । नापि द्वितीयः । अविभक्तसंसृष्टभ्रातृसद्भावेऽपि अविभक्तसंसृष्टपितृग्राह्यत्वस्य सर्वेषामविवादात् ॥२८॥

किञ्च यथा पित्रा भ्रात्रा च विभक्तासंसृष्टधने शरीरदातृतया "आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्येकत्वश्रुतेर्धन-शरीरयोश्च प्रभुत्वात् तत्पितृदेयपितामह-प्रपितामहपिण्डद्वये च सपिण्डनेन मृतस्य भोक्तृत्वात्, जीवति च पितरि पुत्राणां पार्वणपिण्डदानाभावात् भ्रातृभ्यः पूर्वं पितुरधिकारः तथेतरत्रापि युक्तः, अविभाग-संसर्गयोर्वा अविशेषात्, पितृ-भ्रात्रोस्तुल्यवदधिकारः युक्तः, न तु भ्रातुरभावे पितुरिति युक्तम् ॥२९॥ किञ्चाविभक्तसंसृष्टौ पितरौ गृह्णीयातामिति द्विवचनमप्यनुपपन्नम्। मात्रा सह विभागाविभागयोरभावात्। अतएव धनसंसर्गाभावोऽपि ।

यदाह बृहस्पतिः—

विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः ।
पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तु संसृष्ट उच्यते ॥

अनेनैतद्दर्शयति-येषामेव हि पितृ-भ्रातृ-पितृव्यादीनां पितृपितामहार्जितद्रव्येणाविभक्तत्वमुत्पत्तितः सम्भवति; त एव विभक्ताः सन्तः परस्परप्रीत्या यदि पूर्वकृतविभागध्वंसेन यत्तव धनम्, तन्मम धनम्, यन्मम धनम् तत्तवापीति । एकत्र गृहे एकगृहिरूपतया संस्थिताः संसृज्यन्ते, न पुनरेवंरूपाणां द्रव्यसंसर्गमात्रेण सम्भूयकारिणां वणिजामपि संसर्गित्वम्। नापि विभक्तानां

द्रव्यसंसर्गमात्रेण पूर्वोक्तप्रीतिपूर्वकाभिसन्धानं विना, अतः संसर्गित्वाविभक्तत्वयोर्मात्रा सहासम्भवात्, कथं मातृगतो भ्रातृसद्भावाधिकारविरोधः समाधेयः ॥३०॥

अस्मिन् विषये स्वसिद्धान्तवर्णनम्

सम्प्रति धीमद्भिः[१] समाधीयते। तत्र विष्णवादिवचनेभ्यः पुत्राद्यभावमात्रेण पत्न्यधिकारः स्पष्टमवगम्यते। युक्तश्चैतत् यन्मृतधनं पुत्र-पौत्र-प्रपौत्राणामेव प्रथमं भवति।

तथाहि **मनु विष्णू**—

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥
(मनु० १३८। विष्णु १५-४३)

तथा **हारीतः**—

पुन्नामा निरयः प्रोक्तश्छिन्नतन्तुश्च नैरयः।
तत्र वै त्रायते यस्मात् तस्मात् पुत्र इति स्मृतः॥

तथा **शङ्ख-लिखितौ**—

पितॄणामनृणो जीवन् दृष्ट्वा पुत्रमुखं पिता।
स्वर्गी स तेन जातेन तस्मिन् संन्यस्य तदृणम्॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदा यज्ञाश्च शतदक्षिणाः।
ज्येष्ठपुत्रप्रसूतस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

तथा मनु-शङ्ख-लिखित-विष्णु-वशिष्ठ-हारीताः—

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥
(मनु ९-१३७, वशिष्ठ १३-५, विष्णु १५-४५)

तथा **याज्ञवल्क्यः**—

लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकैः (१-७८) ॥ ३१ ॥

तदेवं पुत्रादिभिर्जन्मतः प्रभृति पितुः परलोकोचितमहोपकारनिष्पादनात्, मृतस्य तस्य च पार्वणविधिना पिण्डदानात्, पुत्राद्यर्थं तद्धनं मृतमेवोपकरोतीति न्यायप्राप्तं पुत्रादीनां स्वामित्वं श्रुतम्।

---

१. धीमद्भिः अस्मदभिमतार्थवादिभिः हलायुधादिभिरित्यर्थः। विशेषस्तु भूमिकायां द्रष्टव्यः।

तथोप्रकारकत्वेनैव धनसम्बन्धं मनुरप्याह—

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामनृणश्चैव स तस्माल्लब्धुमर्हति ॥ ३२ ॥
(मनु ९-१०६)

तस्मादिति हेतूपन्यासात् दायभागप्रकरणे च पुत्रादीनां नानाविधपित्राद्युपकारकत्वकीर्तनस्य अनन्यप्रयोजनकत्वात्, उपकारकत्वादेव धनसम्बन्धः मनोरनुमत इति गम्यते ॥ ३३ ॥

अतएव पुत्रपदं प्रपौत्रपर्यन्तपरम्, तत्पर्यन्तानामेव पार्वणविधिना पिण्डदानोपकारकत्वस्याविशेषात् ॥ ३४ ॥

अन्यथा पुत्रपदस्य स्वार्थत्यागानुपपत्तेः पौत्राधिकारज्ञापकं वचनम् कथञ्चित् यदि लभ्येतापि, प्रपौत्रस्य तु न पृथक् वचनमस्ति ॥ ३५ ॥ तस्मादुपकारकत्वादेव प्रपौत्रस्याप्यधिकार इति पुत्रपदमुपलक्षणम् ॥३६॥

अतएव बौधायनः "अपि च प्रपितामहः, पितामहः, पिता, स्वयं, सोदर्याः भ्रातरः, सवर्णायाः पुत्रः, पौत्रः, [1]प्रपौत्रः एतान् अविभक्तदायादान् सपिण्डानाचक्षते, विभक्तदायानामपि सकुल्यानाचक्षते, असत्स्वन्येषु तद्गामी ह्यर्थो भवति, सपिण्डभावे सकुल्यः, तदभावे पिता चाचार्योऽन्तेवासी ऋत्विग्वाहरेत तदभावे राजा" ॥३७॥ (बौ० ध० सू० १।११।७, ८, ९, १०, ११, १२)

अस्यार्थः-पित्रादिपिण्डत्रये सपिण्डने भोक्तृत्वात् पुत्रादिभिश्च त्रिभिः तत्पिण्डस्यैव दानात्, यश्च जीवन् यत् पिण्डदाता, स मृतः सन् सपिण्डनात् तत्पिण्डभोक्ता, एवञ्च सति मध्यस्थितः पुरुषः सर्वेषां जीवन् पिण्डदाता, स मृतः तत्पिण्डभोक्ता च, परेषां जीवतां पिण्डसम्प्रदानभूत आसीत्, मृतैश्च तैः सह दौहित्रादिदेयपिण्डभोक्ता, अतो एषामयं पिण्डदाता, ये वास्य पिण्डदातारः, ते अविभक्तपिण्डरूपं दायमदन्तीत्यविभक्तदायादाः सपिण्डाः पञ्चमस्य तु पूर्वस्य मध्यमः पञ्चमो न पिण्डदाता, न च तत्पिण्डभोक्ता, एवमधस्तनोऽपि पञ्चमो न मध्यमस्य पिण्डदाता, नापि तत्पिण्डभोक्ता, एतेन वृद्धप्रपितामहप्रभृतयस्त्रयः पूर्वपुरुषाः प्रतिप्रणप्तुश्च प्रभृत्यधस्तनास्त्रयः पुरुषाः एकपिण्डभोक्तृत्वाभावात् विभक्तदायादाः सकुल्याः इत्याचक्षते ॥ ३८ ॥ इदञ्च सपिण्डत्वम्, सकुल्यत्वञ्च दायग्रहणार्थमुक्तम् ॥ ३९ ॥

---

१. प्रपौत्र इत्यनन्तरं तत्पुत्रवर्जं तेषां पुत्र-पौत्रमिति बौधायनधर्मसूत्रेऽधिको दृश्यते। अन्येषु—औरसादिषु पुत्रेषु।

अतएव मनुनापि

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।

इत्यभिधाय कुत, इत्यपेक्षायाम्,

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ॥

चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ ४० ॥

(मनु १२६-१८६)

अशौचाद्यर्थन्तु पिण्डलेपभुजामपि तद्दत्तपिण्डलेपभोक्तृत्वेन सपिण्डत्वम् मार्कण्डेयपुराणे निर्दिष्टम्—

पिण्डलेपभुजश्चान्ये पितामहपितामहात् ।

प्रभृत्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानश्च सप्तमः ॥

इत्येवं मुनिभिः प्रोक्तः सम्बन्धः साप्तपौरुषः ।

(मार्कण्डेयपु० २८-४)

[1]अशौचकर इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अतएव मनुनाप्युक्तमाशौचप्रकरणे ।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।

समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥

(मनु ५-६०)

अन्यथा [2]त्रयाणामित्यनेन विरोधः स्यात् ॥ ४२ ॥ प्रपौत्रपर्यन्ताभावे तु वैधव्यात् प्रभृति व्रतादिना भर्तुः परलोकहिताचरणेन पुत्रादिभ्यो जघन्येति, तेषामभावे धनहारिणी पत्नी ।

तदाह व्यासः—

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।

स्नाता प्रतिदिनं दद्यात् स्वभर्त्रे सतिलाञ्जलीन् ॥

कुर्याच्चानुदिनं भक्त्या देवतानाञ्च पूजनम् ।

विष्णोराराधनञ्चैव कुर्यान्नित्यमुपोषिता ॥

दानानि विप्रमुख्येभ्यो दद्यात् पुण्यविवृद्धये ।

उपवासांश्च विविधान् कुर्यात् शास्त्रोदितान् शुभे !

लोकान्तरस्थं भर्तारमात्मानञ्च वरानने ।

तारयत्युभयं नारी नित्यं धर्मपरायणा ॥ ४३ ॥

---

१. साप्तपौरुषस्सम्बन्ध इत्युक्तं सापिण्ड्यमाशौचार्थमिति । इदम्–पुरुषत्रय–विश्रान्तम् । साप्तपौरुषसापिण्ड्यविधानम् ।

२. 'त्रयाणामुदकं कार्यम्' ९-१८६ इत्यादिपद्येन विरोधस्स्यादित्यर्थः ।

तदेवमादिभिर्वचनैः पत्न्या अपि नरकनिस्तारकत्वश्रुतेः धनहीनतया वा अकार्यं कुर्वती पुण्यापुण्यफलसमत्वेन भर्तारमपि पातयतीति, तदर्थं तद्धनम् पूर्वस्वाम्यर्थमेव भवतीति युक्तं पत्न्याः स्वाम्यम् ॥४४॥ [1]अतः शङ्खादिवचनेषु व्यवहितयोजना कार्या, अपुत्रस्य स्वर्यातस्य धनं ज्येष्ठा पत्नी हरेत्, तदभावे पितरौ हरेताम्, तदभावे भ्रातृगामीति। तदभावे इति मध्यपठितं पूर्वेण भ्रातृगामीत्यनेन, परेण च पितरौ हरेतामित्यनेन सम्बध्यते, अविरोधात्[1] न्यायस्योक्तत्वाच्च। न त्वश्रुताविभक्तसंसृष्टगोचरत्वकल्पना ॥ ४५ ॥ अतः अविशेषेणैव विभक्तत्वाद्यनपेक्षयैव अपुत्रस्य भर्तुः कृत्स्नधने पत्न्यधिकारः जितेन्द्रियोक्त आदरणीयः ॥ ४६ ॥ पत्नीत्वञ्च प्रथममुत्तमवर्णायाः। ज्येष्ठा पत्नीत्यभिधानात् वर्णक्रमेण ज्येष्ठत्वात्।

तदाह **मनुः**—

यदि स्वाश्च पराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः।
तासां वर्णक्रमेणैव ज्येष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ (मनु० ९-८५)

अतः परिणयनकनिष्ठापि सवर्णा ज्येष्ठैव, तस्या एव यज्ञादिकेषु व्यापाराधिकारात् पत्नीत्वम्।

तथा च **मनुः**—

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यञ्च नैत्यिकम्।
स्वा स्वैव कुर्यात् सर्वेषां नान्यजातिः कथञ्चन।
(मनु० ९-८६-८७)

यस्तु तत् कारयेन्मोहात् स्वजात्या स्थितयान्यया।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ (मनु० ९-८६-८७)

सवर्णायाः पुनरभावे, अनन्तरवर्णा पत्नी।

यथा **विष्णुः**—

"सवर्णाया अभावे त्वनन्तरयैवापदि, न त्वेव द्विजः शूद्रया। (विष्णु २६-३) धर्मकार्यं कुर्यादित्यनुवर्तते। (विष्णु २६-१) तेन ब्राह्मणस्य ब्राह्मणी पत्नी, तदभावे क्षत्रियाप्यापदि, न तु परिणीते अपि वैश्याशूद्रे, क्षत्रियस्य क्षत्रिया पत्नी, तदभावे वैश्यापि, अनन्तरवर्णत्वात् न शूद्रा, वैश्यस्य वैश्यैवैका, नत्वेव द्विजः शूद्रयेति द्विजमात्रस्यैव शूद्रानिषेधात् ॥ ४७ ॥ अनेनैव पत्नीभावक्रमेण धनाधिकारिता बोद्धव्या। अतः परिणीतस्त्रीणामप्यपत्नीत्वात् तदभिप्रायकमेव नारदवचनम्।

१. पत्न्यधिकारविपरीतबोधकानां शङ्खादिवचनानांमपुत्रस्य स्वर्यातस्येत्यादीनां स ब्रह्मचारिण इत्यन्तानां व्यवहितयोजनया व्याख्यामाह अतः इति।

यथा—

भ्रातॄणामप्रजाः प्रेयात् कश्चित् वै प्रव्रजेद् यदि।
विभजेरन् धनं तस्य शेषास्ते स्त्रीधनं विना॥
भरणञ्चास्य कुर्वीरन् स्त्रीणामाजीवितक्षयात्।
रक्षन्ति शय्यां भर्तुश्चेदाच्छिन्द्युरितरासु च॥
(नारद १३–२६–२७)

तथा [1]तस्यैव।

अन्यत्र ब्राह्मणात् किन्तु राजा धर्मपरायणः।
तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः॥ (नारद १३-२५)

तदीयस्त्रीणामपत्नीनां[2] वर्तनधनदानम्, पत्नीनां पुनः कृत्स्नधनेऽधिकारितेत्यविरोधः॥ ४८॥

अतएव बृहस्पतिः—

येऽपुत्राः क्षत्र-विट्-शुद्राः पत्नीभ्रातृविवर्जिताः।
तेषां धनं हरेद्राजा सर्वस्याधिपतिर्हि सः॥

पत्न्यभावे राज्ञो धनसम्बन्धं दर्शयति। नारदस्तु—'तत् स्त्रीणां जीवनम् दद्यादि'ति वर्तनधनं दत्वा राज्ञा सर्वधनं ग्रहीतव्यमिति यो विरोधः, स पत्नी–स्त्रियोर्भेदेन समाधेयः। अतएव पत्न्यधिकारवचनेषु पत्नीपदानुस्मृतिः, वर्तनवचनेषु च स्त्री-नार्यादिशब्दप्रयोगः॥४९॥

यदपि देवलवचनम्—

ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन् सहोदराः।
तुल्या दुहितरो वापि ध्रियमाणः पितापि वा।
सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम्।
एषामभावे गृह्णीयुः कुल्यानां सहवासिनः॥

तुल्याः सवर्णा दुहितरः। सवर्णा भ्रातरः सापत्ना अभिमताः। सोदरभ्रातॄणां स्वपदोपात्तत्वात् विशेषणानुपपत्तेः। तत्रापि सहोदरादि भार्यान्तस्य लिखनक्रमो नाधिकारक्रमार्थः, विष्ण्वादिविरोधात्, किन्तु विष्णवाद्युक्तक्रमेण गृह्णीयुरित्येतदर्थः। लिखनक्रमेऽनास्थाव्यञ्जनार्थमेव। दुहितरो वापि पितापि वेति अपि-वाशब्दमुभयत्र प्रयुक्तवान्। तच्चान्यत्राप्यनुषज्यते। तेन सहोदरा वा दुहितरो वा पितावेत्यनास्था कीर्तनक्रमस्य देवलवचनेन दर्शिता॥५०॥

---

१. तस्यैव—नारदस्यैव वचनान्तरमितिशेषः।

२. अपत्नीनाम्—व्यवहितवर्णानां शूद्राणामित्यर्थः।

बालकमतस्योपन्यास-निरासौ

यच्च बालकेनोक्तम्–असवर्णाविषयं वा युवत्यभिप्रायं वा अविभक्तसंसृष्ट-विषयं वा शङ्खादिवचनमिति। तेनाऽव्यवस्थितशास्त्रार्थकथनेनात्मनो बाल-रूपत्वमेव प्रकटीकृतम्, सन्देहादेकतरानुष्ठानानुपपत्तेः ॥५१॥

यदप्यनूढावरुद्धाभिप्रायं वर्तनवचनं वर्णितम्। तदपि धर्मपत्नीनामनु-ग्रहार्थमिति हेयमेव, वर्तनविधानविषयस्य स्त्रीणां पूर्वमेव दर्शितत्वात् ॥५२॥ किञ्च सवर्णत्वासवर्णत्वाभ्यां पत्नीकृतविशेषेऽपि पित्रोर्भ्रातॄणां चाधिकारे कथं विरोधः समाधेयः। संसर्गासंसर्गाभ्याश्चेत्। स एव विशेषः सर्वव्यापी भवतु, किं पत्नीगोचरसवर्णादिविशेषपरिकल्पनेन। [1]अयमपि विशेषो दूषितः अस्माभिः [2]पूर्वप्रपञ्चेन ॥५३॥

सोदरासोदरकृतश्च विशेषो वृहस्पतिना पराहतः। तदाह—

सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृ-मातृ-सनाभिभिः।
असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी॥

सनाभयः—सहोदराः। तेषु सत्स्वपि पत्न्या धनसम्बन्धं बोधयति। तद्भागशब्दात् कृत्स्न एव भर्तृभागोऽवगम्यते, न पुनस्तदेकदेशः ॥५४॥ तस्मादस्मद्दर्शितैव व्यवस्था शास्त्रार्थः ॥५५॥

पत्नी च भर्तृधनं भुञ्जीतैव परम्। न तु तस्य दानाधानविक्रयान् कर्तुमर्हति। तदाह—**कात्यायनः**—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता।
भुञ्जीतामरणात् क्षान्ता दायादा अर्द्धमाप्नुयुः ॥५६॥

[3]गुरौ-श्वशुरादौ भर्तृगृहे स्थिता यावज्जीवं भर्तृधनं भुञ्जीत, न तु स्त्री-धनवत् स्वच्छन्दं दानाधानविक्रयानपि कुर्वीत, तस्यान्तु मृतायां पत्न्यभावे ये दुहित्रादयो दायाधिकारिणः, ते गृह्णीयुः, न पुनर्ज्ञातयः, तेषां दुहित्रादिभ्यः जघन्यत्वात् तद्बाधकत्वानुपपत्तेः। पत्नी हि तेषां बाधिका, तदधिकारस्य प्रागभावे, प्रध्वंसे च बाधकाभावस्याविशेषात् बाधानुपपत्तेः ॥५७॥

---

१. अयमपि–विज्ञानेश्वरमतनिरासायोपन्यस्तेन १७ वृहस्पतिवचनेन विरुद्धमिति-ग्रन्थसन्दर्भरूपः पूर्वं प्रपञ्चेन दूषित इत्यर्थः।

२. पूर्वप्रपञ्चेन–अत्र केचिदविभक्तसंसृष्टगोचरो भ्रात्राधिकारः प्रथमम्, विभक्ता-संसृष्टगोचरश्च पत्न्यधिकारइतिसमादधति, तत् वृहस्पतिविरुद्धमित्यादिना प्रपञ्चेनेत्यर्थः।

३. इदञ्च मित्रमिश्रेण पत्न्या धनाधिकारप्रस्तावे पौरस्त्यास्त्वित्यादिनोपन्यस्त-मिति बोध्यम्।

नापि स्त्रीधनाधिकारिणो गृह्णीयुः, तेषां स्त्रीधनविषयत्वात् कात्यायनेनैव च स्त्रीधनाधिकारिणां वचनान्तरैरुक्तत्वात् पुनरुक्तत्वापत्तेश्च ॥ ५८ ॥ अतः 'पत्नी दुहितरश्चैवे'त्यादिना ये पूर्वपूर्वस्याभावे परभूताधिकारिणो निर्दिष्टाः, ते यथा पत्न्यधिकारप्रागभावे गृह्णीयुः, तथा जाताधिकारायाः पत्न्या अधिकार-प्रध्वंसेऽपि भोगावशिष्टं धनं गृह्णीयुः, तदानीं दुहित्रादीनामेवान्यापेक्षया मृतोपकारकत्वात् युक्तो धनाधिकारः ॥५९॥

तथा **दानधर्मे**—

स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः ।
नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिदायात् कथञ्चन ॥ ६० ॥

उपभोगोऽपि न सूक्ष्मवस्त्रपरिधानादिना, किन्तु स्वशरीरधारणेन पत्युरुपकारकत्वात् देहधारणोचितोपभोगाभ्यनुज्ञानम् । एवञ्च भर्तुरौर्द्धदैहिक-क्रियाद्यर्थं दानादिकमप्यनुमतम् । अतएव 'नापहारं स्त्रियः कुर्यु'रि'त्यपहार-वचनम्, अपहारश्च धनस्वाम्यनुपयोगे भवति ॥ ६१ ॥ अतएव वर्तनाशक्तौ आधानमप्यनुमतम् । तत्राप्यशक्तौ विक्रयणमपि, न्यायस्याविशेषात् ॥ ६२ ॥ भर्त्तुरौर्ध्वदैहिकक्रियार्थमर्थानुरूपं भर्तृपितृव्यादिभ्यो दद्यात् ।

तदाह **बृहस्पतिः**—

पितृव्य-गुरु-दौहित्रान् भर्तुः स्वस्त्रीयमातुलान् ।
पूजयेत् कव्य-पूर्ताभ्यां वृद्धानाथातिथीन् स्त्रियः ॥

पितृव्यपदं भर्तुः सपिण्डपरम् । दौहित्रपदं भर्तुर्दुहितृसन्तानपरम् । स्वस्त्रीयपदं भर्त्तुः स्वसृसन्तानपरम् । मातुलपदञ्च भर्तुर्मातृकुलपरम् । तदेवमादिभ्यो दद्यात्, न पुनरेतेषु सत्स्वेव स्वपितृकुलेभ्यः, पितृव्यादिवचनानर्थक्यात् ॥६३॥ तदनुमत्या तु स्वपितृमातृकुलेभ्योऽपि दद्यात् ।

तदाह **नारदः**—

मृते भर्तर्यपुत्रायाः पतिपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ।
विनियोगेऽर्थरक्षासु भरणे च स ईश्वरः ॥
परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये ।
तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ॥

(ना० १३-२८-२९)

विनियोगे-दानादौ । पतिपुत्राभावे भर्तृकुलपरतन्त्रता तस्याः ॥ ६५ ॥ एवञ्च दुहितुरप्यधिकारे जाते, तस्यां मृतायां, तदभावोक्ताः पितृधनाधिकारिणो गृह्णीयुः, न तु दुहितृधनाधिकारिणः । पत्न्या च भर्तृधनात् कन्यायै

विवाहार्थं तुरीयांशो देयः, पुत्राणामेव तद्दानप्रतिपादनात् दण्डापूपायितम् पत्न्यादीनां दानम् ।।६६।। इति पत्न्यधिकारः ।।६७।।

इति पारिभद्रकुलोद्भवस्य महामहोपाध्याय श्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ
धर्मरत्ने दायभागेऽपुत्रधने पत्न्यधिकारो नाम
एकादशेऽध्याये प्रथमः परिच्छेदस्समाप्तः ।

—:※:—

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

पत्न्यभावे दुहितृदौहित्राधिकारः

पत्न्यभावे दुहितुरधिकारः, तत्र **मनु-नारदौ**—

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि [1]जीवन्त्यां कथमन्यो हरेद्धनम् ।
(म० ९–१३० ना० १३-४९)

[2]दुहितरं विशिनष्टि **नारदः**—

पुत्राभावे च दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात् ।
पुत्रश्च दुहिता चोभे पितुः सन्तानकारिके ।।

दुहितुरधिकारे सन्तानदर्शनं हेतुतया निगदितम्, सन्तानश्च पिण्डदः अभिमतः, अपिण्डदस्याऽनुपकारकत्वेन अन्यसन्तानादसन्तानाच्चाविशेषात् ।१। दौहित्रश्च तत्पिण्डदाता । न च [3]तत् पुत्रः, नापि दौहित्री, तत्पर्यन्तेन पिण्डविच्छेदात् ।।२।। अतः पुत्रवती, सम्भावितपुत्रा चाधिकारिणी । बन्ध्या विधवा दुहितृप्रसूत्यादिना विपर्यस्तपुत्रा[4] पुनरनधिकारिण्येवेति दीक्षितमत-मादरणीयम् ।।३।।

प्रथमं कन्यायाः पितृधनेऽधिकार इति निरूपणम्

तत्र प्रथमं कन्यैवैका पितृधनहारिणी ।

यथा पराशरः–

अपुत्रस्य मृतस्य कुमारी रिक्थं गृह्णीयात्, तदभावे चोढ़ा । ऊढ़ापदम [5]पूर्वोक्त विशेषपरम् ।।४।।

---

१. तिष्ठन्त्यामिति मनुस्मृतौ पाठः । २. दुहितुरधिकारो निरूप्यत इति शेषः
३. तत्पुत्रः-दौहित्रपुत्रः । ४. विपर्यस्तपुत्रा-पुत्रविपरीतापत्या ।
५. पूर्वोक्तविशेषपरम्--पूर्वोक्तविशेषः--अविपर्यस्तपुत्रत्वम् ।

तथा देवलः–

कन्याभ्यश्च पितुर्द्रव्यात् देयं वैवाहिकं वसु ।
अपुत्रिकस्य कन्या स्वा धर्मजा पुत्रवद्धरेत् ॥

पुत्रिकापदं पुत्रोपलक्षणम् । स्वा सवर्णा । धर्मजा औरसी ॥ ५ ॥ युक्तश्चैतत् धनमन्तरेणापरिणीतायाः कन्याया ऋतुदर्शने पित्रादीनां नरकपातश्रुतेः । तदाह विष्णुः—

यावत्तु कन्यामृतवः स्पृशन्ति तुल्यैः सकामामपि याच्यमानाम् ।

तावन्ति भूतानि हतानि ताभ्यां मातापितृभ्यामिति धर्मवादः (वसिष्ठ १७-६५) तथा पैठीनसिः, "यावन्नोद्भिद्येते स्तनौ तावदेव देया । अथ ऋतुमती भवति, तदा दाता प्रतिग्रहीता च नरकमाप्नोति, पितृ-पितामह-प्रपितामहाश्च विष्ठायां जायन्ते, तस्मान्नग्निका दातव्या" ॥६॥ तस्मात् विवाहोपयुक्तत्वेन पित्रादीनां नरकनिस्तारकत्वात्, परिणीतायाश्च पुत्रद्वारेणाप्युपकारकत्वात्, तदर्थं धनं स्वाम्यर्थमेव भवतीति, पत्न्यभावे न्याय्यं कन्यास्वत्वम् ॥७॥

पितृधने कन्याया अभावे संभावितपुत्राया अधिकारनिरूपणम्

कन्यायास्त्वभावे सम्भावितपुत्रायाः, पुत्रवत्याश्चाधिकारः ।

तदाह बृहस्पतिः—

सदृशी सदृशेनोढ़ा भर्तृशुश्रूषणे रता ।
कृताकृता वाऽपुत्रस्य पितुर्धनहरी तु सा ॥८॥

सदृशी-पितृसवर्णा । सदृशेनोढ़ेति, उत्तमाधमवर्णपरिणीतानिरासार्थम्, उत्तमाधमपरिणीतादुहितृजातस्य अधमोत्तमवर्णमातामहादिश्राद्धनिषेधात् । सवर्णोढ़ायास्तु पुत्रद्वारेण पित्रुपकारकत्वात् ॥९॥ पुत्रिकापुत्रस्य तु पुत्रवदेवोपकारकत्वातिशयेन पुत्रिकायाः पुत्रतुल्यत्वात्, पुत्रिकौरसयोः समधनाधिकारः अपुत्रिकायास्तूढ़ायाः पुत्रादिन्यूनोपकारकस्वपुत्रद्वारेणोपकारकत्वमिति कन्यापर्यन्तानामभाव एव धनाधिकारिता युक्ता ॥ १० ॥ न च वाच्यम् एवं तर्हि पुत्रवत्या एव प्रथमाधिकारोऽस्तु, तदभावे तु सम्भावितपुत्राया इति, यतः, तस्याः पश्चादुत्पन्नस्य दौहित्रस्यानधिकारापत्तेः । न च तद्युक्तं दौहित्रतया द्वयोरप्युपकाराविशेषात् ॥ ११ ॥ भर्तृशुश्रूषापरत्वेनावैधव्यं प्रदर्शयन् सम्भावितपुत्रतां प्रदर्शयति ॥१२॥ सेति च पूर्ववचनोपात्ता दुहिता परामृश्यते । तदेवं सदृशी सदृशेनोढ़ा इत्यादि विशेषणात् न दुहितृमात्रतया पितृधनाधिकारितेति दर्शयति ॥१३॥

अन्यथा—

अङ्गादङ्गात् सम्भवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम् ।
तस्याः पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः ॥

इत्यनेन दुहित्रधिकारे कथिते सदृशी सदृशेनोढ़ेत्यादिना [1]तस्यैवाभिधानम् पुनरुक्तं स्यात् । सामान्यप्राप्तेस्तु विशेषकथनमपुनरुक्तमेव ॥ १४ ॥ यत एव स्वपुत्रद्वारेण पिण्डदातृतया दुहितुः पितृधनाधिकारः । अतएव पुत्रिकाया अपि पित्रुपरमजातधनसम्बन्धायाः पश्चाद्वन्ध्यात्वेन, तद्भर्तुर्वा प्रसवासामर्थ्येन, विपर्यस्तपुत्राया मरणे, तद्धनं न भर्तुः ।

शङ्खलिखितौ यथा—

प्रेतायाः पुत्रिकायास्तु न भर्ता द्रव्यमर्हति, अपुत्रायाः ।

तथा **पैठीनसिः**—

प्रेतायां पुत्रिकायान्तु न भर्ता द्रव्यमर्हति ।
अपुत्रायां कुमार्यां वा स्वस्रा ग्राह्यं तदन्यया ॥

ततः कुमार्या स्वस्रा, अन्यया वा पुत्रवत्या सम्भवितपुत्रया स्वस्रा तद्धनं ग्राह्यम् । अतः स्त्र्यधिकारे व्यावृत्तिरन्याधिकारस्य ॥१५॥

यत्तु **मनुवचनम्**,

अपुत्रायां मृतायान्तु पुत्रिकायां कथञ्चन ।
धनं तत् पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥

(मनु० ९-१३५)

तदविपर्यस्तपुत्रायाः, [2]उत्पन्नमृतपुत्रायाः पुत्रिकाया मरणे वेदितव्यम् ॥१६॥ पिण्डदानमेव च द्वयोरेकं निमित्तमनुवदति ।

वृहस्पतिः—

यथा पितृधने स्वाम्यं तस्याः सत्स्वपि बन्धुषु ।
तथैव तत्सुतोऽपीष्टे मातृमातामहे धने ॥

यथा येन दौहित्रदेयपिण्डेन दुहिता पितृधनाधिकारिणी, तथैव तेनैव पिण्डदानेन दुहितृसुतोऽपि मातामहधने स्वामी सत्स्वपि पित्रादिषु ॥ १७ ॥ न च पुत्रिकापुत्राभिप्रायेणेदं वचनं 'कृताकृता वाऽपुत्रस्य पितुर्धनहरी तु सा' एतद्वचनोपात्तकृताकृतदुहित्रोरेव तस्या इति, तत्सुत इति तत्पदेन परामर्शात् प्रत्यासत्त्यतिरेकाद्वा अकृतापरामर्श एव युक्तः, न तु तत्परित्यागः ॥१८॥

---

१. तस्यैव—वृहस्पतेरेव ।

२. एतस्यैव विवरणमुत्पन्नमृतपुत्राया इति बोध्यम ।

अतएव **मनुः**—

'दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।
स एव दद्यात् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ।।
पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नास्ति धर्मतः ।
तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ।।१९।।

(मनु० ९-१३२-१३३)

मातामहदेहात् दुहितुः सम्भवं दौहित्रस्य धनाधिकारे हेतुत्वेन [1]निर्दिशति, न तु पुत्रिकाकरणम् । इतरथा तदेव निर्दिशेत् ।

तथा व्यक्तमाह स एव—

अकृता वा कृता वापि यं विन्देत् सदृशात् सुतम् ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात् पिण्डं हरेत् धनम् ।।

अकृताजातस्यापि दौहित्रस्याधिकारमभिदधाति ।। २० ।। किञ्च स्मृतिषु दौहित्रपदं पुत्रिकाजातपरं नियतम् ।

अभ्युपगम्य दुहितरि जातं पुत्रिकापुत्रम् ।
अन्यं दौहित्रम् ([2]विद्यादित्यनुवर्त्तते) ।।२१।। (बौ०ध०सू० २-३१५)

अतएव भोजदेवेनापि कृताकृतदुहित्रधिकारे बृहस्पतिरित्यभिधाय यथा पितृधने स्वाम्यमिति वचनं लिखितम् ।।२२।।

तथा [3]**गोविन्दराजे**नापि **मनुटीकायाम्** ।

अपुत्रपौत्रे संसारे दौहित्रा धनमाप्नुयुः ।
पूर्वेषान्तु स्वधाकारे पौत्रदौहित्रकाः समाः ।।

एतद्विष्णुवचनबलेन ऊढ़ातः प्रागेव दौहित्रस्याधिकारो दर्शितः ।। २३ ।। स चास्मभ्यं न रोचते, सदृशी सदृशेनोढ़ेत्यादिविरोधात् ।। २४ ।। किन्तु ऊढ़ायाः प्रागुक्तरूपाया अभाव एव सत्स्वपि पित्रादिषु दौहित्रस्याधिकारः, तथैवेति दुहितृवद्भावविधानात् । तत्सुतोऽपीत्यप्यर्थतया च निर्देशात्, दौहित्रस्य जघन्यतावगतेः । अतो दुहित्रनन्तरं दौहित्रस्याधिकार इति सिद्धम् ।।२५।। सत्स्वपि बन्धुष्वित्यनेन पित्रोरधिकारः पत्न्यभावे, न्याय्योऽपि दुहितृदौहित्राभ्यां बाधित इति, बाधकाभावे पित्रोरधिकारः सूचितः ।

---

१. निर्दिशतीति–पूर्वेणान्वयः ।

२. बोधायनधर्मसूत्रतो दौहित्रमित्यनुवर्तते । पूर्वसूत्रत्वात् विद्यादित्यनुवर्तते, नास्ति, किन्तु गोविन्दस्वामिविवरणेऽस्तीति विज्ञेयं विज्ञैः ।

३. कृताकृतावेत्यादि ९.१३६ पद्यव्याख्यायामितिशेषः ।

अत एवानन्तरं **बृहस्पतिः**—

तदभावे भ्रातरस्तु भ्रातृपुत्राः सनाभयः।
सकुल्या बान्धवाः शिष्याः श्रोत्रिया धनहारकाः॥

तच्छब्देन दौहित्रस्य पित्रोश्च सूचितयोः परामर्शः, तेनामीषामभावे भ्रात्रादीनामधिकारः॥ २६ ॥

यत्तु **बालकवचनम्**—

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा।

इत्यादिनियतक्रमादधस्तन एव दौहित्रस्याधिकार इति। तत् बृहस्पति-वचनेन विरोधात् बालवचनमेव। बहुवचनान्तदुहितृपदेनैव कन्योढ़ादौहित्राणां निर्दिष्टत्वात्। क्रमविरोधाभावात्। यथा स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्येति पुत्रपदं प्रपौत्रपर्यन्तपरम्, पिण्डदत्वाविशेषात्। तथा दौहित्रस्यापि पिण्डदत्वात् तत्-पर्यन्तपरं दुहितृपदम्।

यथा वा—

पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात्।

इत्यत्र पुत्रपदं पत्नीपर्यन्तपरम्। अन्यथा दुहितर इति बहुवचनमनर्थकं स्यात्। पत्नी तत्सुत इत्यादिवदेकवचनमेव कुर्यात्। भ्रातर इत्यस्यापि बहुवचनस्यार्थवत्तां[१] वक्ष्यामः, किञ्च पित्रादीनां राजपर्यन्तानां क्रमनियमात् राज्ञोऽभावे दौहित्रस्याधिकारो वाच्यः, न च कदाचिद्राज्ञोऽभावोऽस्तीत्यन-धिकार एवाभिहितो भवेत्॥ २८ ॥ तस्मात् विश्वरूपजितेन्द्रिय--भोजदेव-गोविन्दराजैर्दुहित्रभावे दौहित्रस्याधिकारो निरूपित आदरणीयः ॥ २९ ॥ यदा च कन्या जाताधिकारा, पश्चात् परिणीता सती म्रियते, तदा तद्धनम् कन्याया अनुत्पन्नाधिकाराया अभावे येषामूढ़ादीनां प्रतिपादितम्। उत्पन्ना-धिकाराया अप्यभावे तेषामेव तद्धनम्, न तु तद्भर्त्रादीनां भवति, तस्य स्त्री-धनविषयत्वात्। 'भुञ्जीतामरणात् क्षान्ते'ति वचनेन जाताधिकारायाः पत्न्याः अभावे अनुत्पन्नाधिकारपत्न्यभावोक्तानां पूर्वधनस्वामिदायग्राहिणां दुहित्रा-दीनां धनाधिकारस्य दर्शितत्वात्। पत्नीतो जघन्यदुहितृदौहित्रयोरधिकारे दण्डापूपन्यायसिद्धोऽयमर्थः ॥३०॥

---

१. संसृष्टवचनव्याख्यानावसरे इति शेषः।

२. अतएव बहूनामधिकारप्रतिपत्त्यर्थं भ्रातर इति बहुवचनमुक्तम्। अन्यथाऽनर्थकं भवेदित्यादिग्रन्थेनेतिशेषः

यद्वा पत्नीत्युपलक्षणम्, स्त्रीमात्राधिकारे अयमर्थो बोद्धव्य इति तात्पर्यम् ।।३१।। इति दुहितृदौहित्रयोरधिकारः ।।३२।।

इति पारिभद्रीयस्य महामहोपाध्यायजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने दायभागे एकादशाध्यायस्य दुहितृदौहित्रयोरधिकारनिरूपणपरः द्वितीयः परिच्छेदस्समाप्तः ।

—: * :—

अथ तृतीयः परिच्छेदः

दौहित्रस्याभावे पितुरधिकारप्रतिपादनम्

दौहित्रस्याभावे पितुरधिकारः, न मातुः, नापि युगपन्मातापित्रोः । 'तदभावे मातृगामी'ति विष्णुवचनविरोधात् ।। १ ।।

यत्तु मनुवचनम् ।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ।। (मनु० ९-२१७)

यच्च बृहस्पतिवचनम्--

भार्या-सुतविहीनस्य तनयस्य मृतस्य च ।
माता रिक्थहरी ज्ञेया भ्राता वा तदनुज्ञया ।।

तत् पितृपर्यन्ताभावे बोद्धव्यम् ।।२।। न्यायागतश्चैतत् दौहित्रात् परतो मातृतश्च पूर्वं पितुरधिकार इति, मृतपिण्डमृतभोग्यान्यपिण्डद्वयदातुर्दौहित्रात् मृतभोग्यान्यपिण्डद्वयमात्रदातृतया पितुर्जघन्यत्वात् । मात्रादिभ्यस्तु मृतभोग्यान्यपिण्डद्वयदातृतया ।

'बीजस्य चैवं योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते' । (मनु० ९-३५)

इति मनुवचनावगतोत्कर्षेण च बलवत्त्वात् ।।३।। पितरावित्यत्र च पितृक्रम एवावगम्यते, तथाहि पितृपदात् प्रातिपदिकात् प्रथमं पितुरवगतेः, पश्चात्तु द्विवचनबलेनैकशेषकल्पनया मातुरवगमात् ।। ४ ।। अतः क्रमज्ञानम् क्रमाभिधानव्याप्तम्, तत् निवर्तमानं क्रमज्ञानं निवर्त्तयतीत्यनुमानम्, तदप्रमाणं, व्यापकनिवृत्तेरसिद्धत्वात्, विष्णुवचनविरोधाच्च ।। ५ ।। इति पितुरधिकारः ।।६।।

इतिपारिभद्रीयस्य महामहोपाध्यायजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने दायभागे एकादशाध्यायस्य दौहित्राभावे पितुरधिकारनिरूपणपरस्तृतीयः परिच्छेदस्समाप्तः ।

—: ❀ :—

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

पितुरभावे मातुरधिकार इति निरूपणम्

पितुरभावे मातुरधिकारः, पितुरधिकारानन्तरं तदभावे मातृगामीति (विष्णुस्मृतेः १७-७१) ॥१॥ युक्तश्चैतत् गर्भधारणपोषणात् कृतोपकारतया तन्निष्क्रयस्यावश्यकर्तव्यत्वात्, पुत्रभोग्यान्यपिण्डदजननेनाप्युपकारकत्वाच्च, भ्रात्रादिभ्यः पूर्वमधिकारस्य न्याय्यत्वात् ।।२।। अतः पितृतो गौरवातिरेकश्रुतेः मातुरधिकारः पितृतः पूर्वमिति हेयम् । गौरवातिरेकस्य धनसम्बन्धहेतुत्वे 'उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिते '(मनुः २-१४६) ति पितृतः पूर्वमाचार्यस्याधिकारापत्तेः, कनिष्ठे च भ्रातरि, भ्रातृसुते वा सत्यपि पितृव्यादीनामधिकारापत्तेश्च ।।३।। अतः पितृतः परत एव मातुरधिकार इति । एवञ्च मृतस्य पितृसन्तानात् पूर्वं पितुश्च परतो मातुरधिकारइति वदता पितामहसन्तानात्पूर्वं पितामहाच्च परतः पितामह्या धनाधिकारः सूचितः । अन्यथा पितरौ भ्रातरस्तथेति क्रमविरोधः स्यात् ।

अतएव मनुः–

'मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्' ।

ससन्तानायां वृत्तायामित्यर्थः ॥ ४ ॥

अपिशब्दचकारयोश्चोभयत्रान्वयः कार्यः, तेन मातरि च वृत्तायां पितामह्यपि गृह्णीयात्, किं पुनर्भ्रात्रादयः पितामहपर्यन्ता इति अपिशब्दसूचिताः भ्रात्रादयः ।।५।। तदयं वचनार्थः-दौहित्रान्तात् मृतसन्तानात् परतः स्वसन्तानाच्च पूर्वमुक्तक्रमेण पित्रोरधिकारः, अतः स्वसन्तानात् पूर्वं पितामहपितामह्योरधिकारोऽनेनैव दर्शितः, अतएव याज्ञवल्क्येन मातुरधिकारप्रदर्शनेनैव पितृव्यादिभ्यः पूर्वं पितामहपितामह्योरधिकारस्याप्युक्तत्वात् न पृथगुक्तः ।।६।। इति मातुरधिकारः ॥ ७ ॥

इति पारिभद्रीयस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने
दायभागे एकादशाध्यायस्य पितुरभावे मातुरधिकार
इति चतुर्थः परिच्छेदस्समाप्तः ।

अथ पञ्चमः परिच्छेदः

मातुरभावे भ्रातृगामीति प्रतिपादनम्

मातुरभावे भ्रातुर्धनं मातृगामीत्यभिधाय, तदभावे भ्रातृगामी (१७-९)ति विष्णुवचनात्। तदिति मातुः परामर्शः, 'पितरौ भ्रातरस्तथेत्यत्रापि' पित्रोरभावे भ्रातुरधिकारावगतेः ।। १ ।। न च भ्रातरस्तथा तत्सुता इति यथा भ्रातरोऽधिकृताः, तथा भ्रातृपुत्रोऽपि मातुरनन्तरमधिकारी स्यादिति वाच्यम्। भ्रातृगामीत्यभिधाय तदभावे भ्रातृपुत्रगामी (१७-१०)ति विष्णुविरोधात्। तदिति भ्रातुः परामर्शः।।२।। न्याय्यश्चैतत्, मृतधनिभोग्यपित्रादित्रयपिण्डदानेन भ्रातुरुपकारकत्वात्। तथा तद्देयमातामहादिपिण्डत्रयदानेन तत्स्थानपातात्च। अनेवंरूपात् भ्रातृपुत्रात् बलवत्त्वात् मातृमूलत्वाच्च भ्रातुरेवंरूपस्य मातृतो जघन्यतेति, मातृतः परत एवाधिकारो युक्तः ।। ३ ।। किञ्च तथा पदं अत्रैव कुतो न सम्बध्यते, तेन यथा पितरौ भ्रातरोऽपि तथेति पित्रोर्भ्रातॄणाञ्च तुल्याधिकारः स्यात् ।।४।। तस्मात् विष्णुवचनविरोधेनैवायं पर्यनुयोगः परिहर्तव्यः। स चान्यत्रापि समानः।

तथा च **मनुः**--

'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा'। (मनु० ९-१८५)

भ्रातर एव हरेयुः, न तु भ्रातृपुत्रोऽधिकारीत्याह ।।५।। किञ्च जीवत्पितृकस्यापि भ्रातृपुत्रस्य किमधिकारो नेष्यते, न चात्रान्यो हेतुः, जीवत्पितृकस्य पिण्डदत्वाभावे नानुपकारकत्वादित्यतः। एवञ्चेन्मृतपितृकस्यापि भ्रातृतुल्योपकारकत्वाभावात् कथं तुल्यवदधिकारिता।

अतएव **देवलेन**–

ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन् सहोदराः।
तुल्या दुहितरो वापि ध्रियमाणः पितापि वा ।।
सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम्।

इत्यनेन भार्यासवर्णादुहितृ-पितृ-मातृ-सहोदर-भ्रातृसापत्नभ्रातृपर्यन्ताधिकारिशृङ्खलायां भ्रातृपुत्रस्याकीर्तनात् सापत्नभ्रातृपर्यन्ताभाव एव भ्रातृपुत्राणामधिकारः कथितः ।।६।।

यच्च 'सर्वे ते तेन पुत्रेण' (मनु० ९-१८२) ति पुत्रत्वस्मरणम्, तत् पिण्ड-

दानार्थम्, भ्रात्रभावे च धनाधिकारार्थम्। पूर्वोक्तवचनेन विरोधात्। अन्यथा भ्रातृतः पूर्वमेव कुतो न स्यात् ॥७॥ तस्मात् भ्रातुरेव प्रथममधिकारः ॥८॥

तत्रापि प्रथमं सोदरस्यैव। तदुक्तं 'सोदरस्य तु सोदरः, भ्रातरस्तथे' त्युक्तभ्रातुरधिकारावसरे प्रथमं सोदरो गृह्णीयादित्यर्थः। तस्य त्वभावे सापत्नो भ्राता, एकप्रभवत्वेन तस्यापि भ्रातृशब्दार्थत्वात् ॥९॥

तथा च–

'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः।
दद्याच्चापहरेदंशं जातस्य च मृतस्य च' ॥ (याज्ञ० २-१३९)

इदमपि याज्ञवल्क्यवचनं सोदरासोदरयोर्भ्रातृशब्दार्थत्वं दर्शयति। अन्यथा सोदरमात्रस्य तदर्थत्वे सोदरस्य तु सोदर इति न पुनर्विशेषणीयमिति भ्रातृशब्दादेव सोदरावगतेः ॥ १० ॥ तस्मात् 'पितरौ भ्रातर' इत्यनेन सोदरासोदरयोरेवाधिकारो दर्शितः। सोदरवचनेन तु सोदरस्य प्रथममधिकारः ॥११॥ सापत्नस्य च सोदरात् मृतदेयषाट्पौरुषिकपिण्डदातुर्मृतभोग्यमातृपित्रादिपिण्डत्रयदातृतया जघन्यत्वात् भ्रातृपुत्राश्च मृतभोग्यपिण्डद्वयदातुः मृतभोग्यपिण्डत्रयदातृतया उपकारकत्वातिरेकेण बलवत्त्वात्, 'मध्य एवाधिकारः श्रीकरविश्वरूपोक्त एवादरणीयः ॥१२॥ तत्र किं संसृष्टिनोऽप्यसोदरस्य सोदराज्जघन्यत्वं न वेत्यपेक्षायामाह याज्ञवल्क्यः–

'अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत्।
असंसृष्ट्यपि चादद्यात् संसृष्टो नान्यमातृजः' ॥१३॥
(याज्ञ० २-१४०)

अस्यार्थः–संसृष्टी पुनरन्योदर्यः प्रथमं हरेत्, न पुनरन्योदर्यमात्रः। प्रथमञ्च हरन् सोदरं बाधित्वैव वा, तेन सह वेत्यपेक्षायाम्, उत्तरार्द्धम्, असंसृष्ट्यपि सोदरो गृह्णीयात्, सोदरपदमनुवर्तते, नान्यमातृज एव संसृष्टी गृह्णीयात्, संसृष्टपदमेव वा सोदरमभिधत्ते। अतएव बृहद्याज्ञवल्क्यवचनं सोदरो नान्यमातृज इति जितेन्द्रियेण लिखितम्। तथाच पूर्वार्द्धस्य संसृष्टीत्यनुवर्तते ॥१४॥ तेन न केवलमन्योदर्य एव संसृष्टी गृह्णीयात्, किन्त्वसंसृष्ट्यपि सोदरो गृह्णीयादित्यर्थः। तेनासंसृष्टिना सोदरेण संसृष्टिना चासोदरेण विभज्य ग्रहीतव्यम्। अतएवापिचशब्दं प्रयुक्तवान् ॥१५॥

---

१. मध्ये-सोदरभ्रातृ-तत्पुत्रयोर्मध्य इत्यर्थः।

अत्र विषये श्रीकरमतस्यानुवादः

यच्च श्रीकरमिश्रैरुक्तं 'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी'त्यस्य[१] असोदरसंसृष्टिमात्रविषयत्वे अन्यानपेक्षत्वात्। 'सोदरस्य तु सोदर' इत्यस्यापि असंसृष्टसोदरमात्रविषयत्वे नैरपेक्ष्यात्। असोदरे संसृष्टिनि, सोदरे चासंसृष्टिनि उभयोः प्राप्तौ यदि द्वयमेव प्रवर्तते, तदा अन्योन्यसापेक्षमुभयोर्विधायकत्वं भवेत्। न चैकस्य सापेक्षम्, निरपेक्षञ्च विधायकत्वमुचितम्, विधिवैषम्यप्रसङ्गात्। यथा दर्शितम् द्वयोः प्रणयन्ती (मी० द० ७-३-८)त्यधिकरणे पर्वचतुष्टयविहिताया उत्तरवेदेर्न पर्वद्वये प्रतिषेध उपपद्यते। तत्र पर्वद्वये विकल्पसापेक्षं विधानम्, पर्वद्वये च निरपेक्षमिति उत्तरवेदिविधिवैषम्यापत्तेः। तथा चात्र यत्रैव निरपेक्षविधायकत्वम्, तत्रैव संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्यस्य, सोदरस्य तु सोदर इत्यस्य च प्रवृत्तिः स्यात्। तत्रासोदरे संसृष्टिनि, सोदरे चासंसृष्टिनि सत्युभयोरप्रवृत्तेः, तद्धनं न कश्चिदपि गृह्णीयादित्यापद्यते। तस्मात् 'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी'ति संसृष्टधने संसृष्टिनः सामान्यतो भागप्राप्तौ, तदपवादार्थं सोदरस्य तु सोदरः इति वचनम्[२]। एवञ्च संसृष्टिनोऽप्यसोदरस्य, सोदरे सति न प्राप्तिः, किं तर्हि विभागसंसृष्टस्यासंसृष्टस्य च सोदरस्यैवेत्यन्तम्[३]॥ १६॥

स्वमतेन विधिवैषम्यनिरूपणेन पर्युदासाभ्युपगमेन विधिवैषम्यपरिहारवर्णनम्।

तदसङ्गतम्। न हि द्वयोरुभयत्रैकैकशः प्रवृत्तयोर्युगपदेकत्र प्रवृत्तिमात्रेण विधिवैरूप्यम्॥ १७॥ केवलोद्गातृप्रतिहर्त्रपच्छेदेन निरपेक्षप्रवृत्तयोः सर्वस्वदाक्षिण्यादाक्षिण्यशास्त्रयोर्युगपदुभयापच्छेदे सति नैकमपि शास्त्रं प्रवर्तेत, विधिवैरूप्यात्॥१८॥

तथा[४] 'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम्' (तै० आ० ३-१-२-३) इति शास्त्रयोरुपांशुयाजाग्नीषोमीययोः, ऐन्द्रदध्यैन्द्रपयसोरेकैकशः प्रवृत्तयोर्द्वयोराग्नेये प्रवृत्तौ विधिवैषम्यापत्तेर्नैकमपि प्रवर्तेत॥१९॥

---

१. अयञ्च संसृष्टयधिकारः पुत्र-पत्नी-पितृ-मात्रभावे बोध्यः।

२. असंसृष्टिसोदराधिकारार्थम्। अतो न पुनरुक्तिरिति दीपकलिकायां शूलपाणिः पृ० ५७–५८।

३. इत्यन्तं श्रीकरमिश्रैर्यदुक्तमिति पूर्वेणान्वयः।

४. तैत्तिरीयारण्यके तृतीयप्रपाठके चित्तिस्स्रुगित्यादिना दशहोत्रादयो मन्त्राः। मन्त्राणामेतन्नामकत्वं तै०ब्रा० २-३-३१ स्पष्टं विवृतम्। तद् तत एवावन्तव्यम्।

तस्मात् बाधनिरपेक्षं नित्यविधानं क्वचित्, क्वचित् विध्यन्तरबाधसापेक्षमिति वैरूप्यलक्षणम्, तथाहि 'उपात्र वपन्तीति वेदिविधिसापेक्षः निषेधः तद्बाधं विना विधिरेव न स्यादिति, वेदिविधिबाधसापेक्षंविधानम्। न च नित्यवदेव तस्य बाधः, तथा सति निषेधो विफलः। निषेधं विनापि वेद्यकरणस्य प्राप्तेः। ततश्च वेदिविधिरपि निषेधविधिवाधसापेक्षो विधिभावः पर्वद्वये, पर्वद्वये तु निरपेक्ष इति भवति विधिवैषम्यम्, विकल्पश्च स्यात्। रागप्राप्ते तु नित्यवद्बाधः कादाचित्कस्याकरणस्य निषेधान्तरेणापि प्राप्तेः।२०।

अतएव षोड़शिग्रहणाग्रहणशास्त्रयोर्विकल्प इति। ये तु ब्रुवते। प्राप्तिपूर्वकत्वात् निषेधस्य 'न निमित्तम् विधिरपवाधत' इति न्यायेन विकल्प इति, तेषां मते 'न तौ पशौ करोती'त्यादौ रागप्राप्तनिषेधे च विकल्पः स्यात् ॥२२॥

किञ्च एवं निमित्तिनः स्वनिमित्तिबाधाक्षमत्वात् कथं पक्षेऽपि बाधः, अतुल्यबलत्वात्। अथ निषेधस्यैवायं स्वभावः–यत् स्वनिमित्तमुन्मूलयतीति, तदा सर्वदैवोन्मूलयेत्, प्राप्तेरेव दुर्बलत्वात् ॥ २३ ॥

ये तु ब्रुवते यादृच्छिकग्रहणप्राप्तिनिषेधोऽयम्, न तु विधितः प्राप्तस्येति। तदतीवाज्ञवचनम्। वैधग्रहणस्य अवैधग्रहणनिषेधस्य च युगपदुपसंहारासम्भवात् विकल्पाभावप्रसक्तेः। क्रत्वर्थतया च यादृच्छिकग्रहणप्रसक्त्यभावात् निषेधो न क्रत्वर्थस्स्यात् ॥ २४ ॥ तस्मादस्मदुक्तन्यायादेव विकल्पः, तदस्तु किं विस्तरेण ॥ २५ ॥

यच्च स्वयमेव वर्णितम्—असोदरे संसृष्टिनि, सोदरे चासंसृष्टिनि 'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी'त्यनेन असोदरस्य धनसम्बन्धप्राप्तौ तदपवादार्थं 'सोदरस्य तु सोदर' इति वचनम्।

तदप्ययुक्तम्। अस्मिन्नेव विषये 'सोदरस्य तु सोदर' इति सोदरस्य धन प्रसक्तौ, तदपवादार्थं संसृष्टिवचनस्यापि सम्भवात् विनिगमनाकारणाभावात् ॥ २६ ॥

यच्च 'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी'त्येतद्विवरणार्थत्वेन अन्योदर्यं इति वचनम् व्याख्यातम्, तदप्यतीवायुक्तम्। अन्योदर्यवचनादेव विहितार्थलाभात्, संसृष्टिनस्त्वित्यस्यानर्थक्यापत्तेः ॥ २७ ॥ किञ्चाऽन्योदर्यस्तु संसृष्टीत्यस्यायमर्थः-अन्योदर्यस्तु संसृष्टी यः, स नान्योदर्यधनं हरेत्, किन्त्वसंसृष्टयपि सोदरपदानुषङ्गात् सोदर एव गृह्णीयात्, संसृष्टोऽपि नान्यमातृजो गृह्णी-

यादिति व्याख्यातम्। तदपि न। पूर्वार्द्धे एकस्य अन्योदर्यपदस्य पुनरुक्तत्वात्। तथोत्तरार्द्धेऽपि नान्यमातृज इत्यस्यानर्थक्यापत्तेः अपिशब्दस्य चैवकारार्थेऽवर्णनात् ॥२८॥

किञ्च सोदरे चासंसृष्टिनि असोदरस्य संसृष्टिनोऽपवादार्थं सोदरवचनस्य वर्णितत्वात् सोदरासोदरयोरसंसृष्टिनोरप्रवृत्तत्वात् तुल्यवदेवाधिकारः स्यात्। न वा कस्यचिदपि स्यात् ॥ २६ ॥ अथात्रापि सोदरवचनमेव प्रवर्तते। तदैकत्र संसृष्टिवचनं बाधसापेक्षम्। अन्यत्र तु बाधानपेक्षमिति भवतामेव विधिवैरूप्यम्। यथा सोमे विधीयमाना वेदिः दीक्षणीयादिष्वतिदेशप्राप्तवेदिविधिबाधेन अन्यत्र बाधं विनैवेति वैरूप्यात् अवेदिमतां तद्द्रष्टव्यमित्युक्तम् ॥ ३० ॥

स्वमते विधिवैरूप्यनिरासः

अस्मन्मते तु श्रीकरसम्मतमपि विधिवैरूप्यं नास्ति। संसृष्टिसोदरवचनयोरेकैकविषयत्वात्, अन्योदर्यवचनस्य च सोदरस्यासंसृष्टिनः संसृष्टिनश्चासोदरस्य तुल्यवदधिकारज्ञापनार्थत्वात्। अन्योदर्यस्तु संसृष्टी सन्, सत्यपि सोदरेऽसंसृष्टिनि धनं हरेत्। नान्योदर्योऽसंसृष्टचपि गृह्णीयादिति पूर्वार्द्धस्यार्थः। तत्र किं सोदरस्तदानीं न गृह्णीयादित्यपेक्षायाम्, उत्तरार्द्धेनोत्तरम्, असंसृष्टचपि चाददीत सोदर इत्यनुषज्यते, संसृष्टोऽन्यमातृज एव न केवलः, किन्तूभाभ्यां विभज्य ग्रहीतव्यमित्यर्थः। अतो विधिवैषम्यमपि परिहृतम् ॥ ३१ ॥

तथा मनुरप्येतदेव दर्शयति—

सोदर्या विभजेयुस्तं समेत्य सहिताः समम्।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥३२॥

सोदर्यमात्राणां सोदर्या इति, असोदराणाश्च संसृष्टानां, संसृष्टा इति बहुवचनान्तस्वपदादेवेतरेतरयोगावगतेः, समेत्य सहिता इतिपदमुभयसाहित्यार्थमेव युक्तम्, अन्यथानर्थकत्वात्। अत उभयोरितरेतरयोगस्याश्रवणादिति अहृदयव्याहृतम्।

किञ्च ये चेति चकारश्रुतेः चार्थे द्वन्द्वसमासस्यापि श्रवणात् इतरेतरयोगस्याश्रवणाभिधानं द्वन्द्वस्याप्यतदर्थतामापादयति ॥३३॥ तस्मात् सोदरासोदरमात्रसद्भावे सोदराणामेव।

अतएव बृहन्मनुः—

एकोदरे जीवति तु सापत्नो न लभेद्धनम् ।
स्थावरोऽप्येवमेव स्यात् तदभावे लभेत वै ॥३४॥

स्थावरेऽप्येवमेवेति-विभक्तस्थावराभिप्रायेण ।

यस्मादनन्तरमेवाह यमः—

'अविभक्तं स्थावरं यत् सर्वेषामेव तद्भवेत् ।
विभक्तं स्थावरं ग्राह्यं नान्योदर्यैः कथञ्चन' ॥३५॥

सर्वेषाम्–सोदरासोदराणामित्यर्थः । सोदराणामेव मध्ये एकस्य संसृष्टत्वे तस्यैव, असंसृष्टिसोदरासोदरसंसृष्टिसद्भावे च द्वयोरेव, सापत्नमात्रसद्भावेऽपि प्रथमं संसृष्टिनः, तदभावे चासंसृष्टिनोऽसोदरस्य मृतधनं प्रत्येतव्यम् ॥ ३६ ॥ अतएव उक्तक्रमेण बहूनामधिकारप्रतिपत्त्यर्थं भ्रातर इति बहुवचनमुक्तम् । अन्यथानर्थकं भवेत् ॥३७॥ 'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी'त्येतच्च तुल्यरूपसम्बन्धिसमवाये संसर्गकृतविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् ॥३८॥ तेन सोदराणां, सापत्नानां वा तथा भ्रातृपुत्राणाम्, पितृव्यादीनां वा तुल्यानां सद्भावे संसर्गी गृह्णीयात्, वाक्यादविशेषः श्रुतेः । पूर्ववचनेन सर्वेषामेव प्रकृतत्वात् सर्वेष्वेव चापेक्षासद्भावात् । अतो भ्रातृमात्रविषयं वचनमित्यनादरणीयम् ॥३९॥ इति भ्रात्रधिकारः ॥ ४० ॥

इति पारिभद्रीयस्य महामहोपाध्यायश्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने दायभागे एकादशाध्यायस्य भ्रात्राधिकारनिरूपणपरः पञ्चमपरिच्छेदस्समाप्तः ।

अथ षष्ठः परिच्छेदः

भ्रातृपुत्रस्याधिकारप्रतिपादनम्

तदभावे भ्रातृपुत्रस्य, भ्रातृगामीत्यभिधाय 'तदभावे भ्रातृपुत्रगामीति विष्णुवचनात् ॥१॥ तत्रापि प्रथमं सोदरभ्रातृपुत्रस्य, तस्य चाभावेऽसोदरभ्रातृपुत्रस्याधिकारः, 'सोदरस्य तु सोदर' इति वचनात् । असोदरभ्रातृपुत्रो हि धनिनो मृतस्य मातरं विहाय स्वपितामहीविशिष्टस्य धनिपितुः पिण्डदातेति सोदरभ्रातृपुत्राज्जघन्यस्तदनन्तरं धनमधिकरोति ॥२॥ न च सपत्नीकत्वेन सपत्नीमातुः सपत्नीपितामह्याः, सपत्नीप्रपितामह्याश्च श्राद्धेऽनुप्रवेशः, मात्रा-

दिशब्दानां स्वजननी-पितृजननी-पितामहजननीष्वेव मुख्यत्वात्, तैरेव च पदैः श्राद्धे अनुप्रवेशात् ।

यथा—

'स्वेन भर्त्रा सह श्राद्धं माता भुङ्क्ते स्वधामयम् ।
पितामही च स्वेनैव स्वेनैव प्रपितामही' ॥

सपत्नीमात्रादीनाञ्च पार्वणश्राद्धानुप्रवेशो निषिद्ध एव ।

यथा पठन्ति—

'अपुत्रा ये मृताः केचित् स्त्रियो वा पुरुषाश्च ये ।
तेषामपि च देयं स्यादेकोद्दिष्टं न पार्वणम्' ॥३॥

किञ्च सपत्नीकश्राद्धविधानस्य नित्यत्वम्, सर्वजनसिद्धत्वात् । सपत्नीमात्रादीनाञ्चानित्यत्वात् नित्यानित्यसंयोगविरोधेन मात्राद्यपेक्षमेव सपत्नीकश्राद्धविधानं युक्तम् ॥४॥

ननु सोदरभ्रातृपुत्रवत् सोदरपितृव्यस्यापि धनिदेयसपत्नीकपूर्वपुरुषद्वयस्य पिण्डदातृत्वात् धनिपितृव्य-भ्रातृपुत्रयोः समानोऽधिकारः स्यात् ।

उच्यते, पितृव्यो हि धनिनः पितामह-प्रपितामहयोः पिण्डदः, भ्रातुः पुत्रस्तु धनिनः प्रधानं पितरमेवादाय पुरुषद्वयस्य पिण्डदातेति स एव बलवानिति, पितृव्यात् पूर्वमधिक्रियते ॥ ५॥ अतएव भ्रातृनप्तापि पितृव्यस्य बाधकः, मृतधनिकस्य पितुः प्रधानस्यैव पिण्डदातृत्वात् ॥६॥ भ्रातुः प्रति नप्ता न धनिनः पितृसन्ततिरपि पितृव्येण बाध्यते, पञ्चमत्वेन पिण्डदातृत्वाभावात् ।

तथा च मनुः—

'त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ।
चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते' ॥

[मनु० ९–१८६]

इत्यनेन पञ्चमो निषिद्धः ॥७॥ किन्तु पितुरपि प्रपौत्रपर्यन्ताभावे पितृदौहित्रस्याधिकारो बोद्धव्यः, धनिदौहित्रस्येव ॥८॥ एवं पितामहप्रपितामहसन्ततेरपि दौहित्रान्तायाः पिण्डप्रत्यासत्तिक्रमेणाधिकारो बोद्धव्यः ।

'दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत्' ।

[मनु० ९-१३९] इति

हेतोरविशेषात्। स्वदौहित्रवत् पित्रादिदौहित्रस्यापि तद्भोग्यपिण्डदानेन सन्तारकत्वात्॥ ९॥ अतएव मनुना पृथगमीषामधिकारी न दर्शितः 'त्रयाणामि'ति अनन्तर इति मनुवचनद्वयेनैव संगृहीतत्वात्। याज्ञवल्क्येन च पित्रादिदौहित्रस्यापि तद्गोत्रजातस्य पिण्डदानानन्तर्यक्रमेणाधिकारप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रजपदं कृतम्। सपिण्डस्त्रीणाञ्च व्युदासार्थम्। तासामतद्गोत्रजातत्वात्॥१०॥ अतएवाऽअर्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ बौधायनः, न दायं निरिन्द्रियाः अदायादाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः। न दायमर्हति स्त्रीत्यन्वयः, पत्न्यादीनान्त्वधिकारो विशेषवचनादविरुद्धः॥ ११॥ प्रपितामहसन्तानस्य दौहित्रान्तस्य मृतभोग्यपिण्डदातुरभावे मृतदेयमातामहादिपिण्डदानेन पिण्डानन्तर्यात् मातुलादिग्रहणार्थं बन्धुपदं प्रयुक्तवान् याज्ञवल्क्यः। मनुना तु पिण्डदानानन्तर्यवचनेनैव दर्शितम्॥१२॥ मृतदेयमातामहादिपिण्डत्रयस्य मातुलादिभिर्दीयमानत्वात् मातुलाद्यर्थत्वं धनस्य धनद्वारेण तस्यापि तत्पिण्डदातृत्वात्। धनार्जनस्य हि प्रयोजनद्वयं भोगार्थत्वं दानाद्यदृष्टार्थत्वञ्च, तत्रार्जकस्य तु मृतत्वात्। धने भोग्यत्वाभावेनादृष्टार्थत्वमेव शिष्टम्।

अतएव बृहस्पतिः—

'समुत्पन्नाद्धनादर्द्धं तदर्थे स्थापयेत् पृथक्।
मासषाण्मासिके श्राद्धे वार्षिके च प्रयत्नतः'॥

तथा आपस्तम्बः, "अन्तेवासी हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत्, दुहिता वा" (आ०प०ध०सू०२-६-१४-३४)। मासिकादिना तद्भोगार्थं धर्मकृत्येष्विति अदृष्टार्थत्वे हेतुः। अतएव 'दत्तभुक्तफलं धनमि'ति स्मरन्ति। तस्मात् तद्भोग्यपिण्डदातुरभावे तद्देयपिण्डदातुर्मातुलादेरधिकारो न्याय्य एव॥ १३॥ अतएव त्रयाणामिति अनन्तर इति वचनद्वयेनैवायमर्थो दर्शित इति मत्वा तदनन्तरं मनुनोक्तम्।

'अत ऊर्द्धं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा' (९-१८९)॥१४॥ सकुल्यः वृद्धप्रपितामहादिसन्ततिः समानोदकाश्च भण्यन्ते, तेषामुपन्यासक्रमेणाधिकारक्रमः, तदभावे आचार्यशिष्यादीनाम्॥ १५॥ अन्यथा कथं मातुलादीनाम् मनुविरुद्धोऽन्तर्भावः शक्यते। तस्मात् मनुना पूर्ववचनद्वयप्रतिपादितोऽयमर्थः इत्यविरोधः॥१६॥ अतएव दायभागप्रकरणे—

'त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते।
चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते'॥

[मनु० ९-१८६] इत्युक्त्वा

"अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेद्" [मनु० ६-१८७] इति लिखितं पञ्चमस्यैकपिण्डसम्बन्धहीनस्य पितृमातृकुलजातैकपिण्डसम्बन्धिसद्भावे अनधिकारार्थम्, अन्यथा 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' [मनु. ५-६०] इति सपिण्डत्वस्योक्तत्वात् 'अनन्तरः सपिण्डाद् य' इत्यनेन चानन्तर्यस्य धनग्रहणकारणत्वेनाभिहितत्वात् त्रयाणामित्यनर्थकं स्यात्। न च त्रैपुरुषिकश्राद्धविधानार्थमिदमिति वाच्यम्, दायभागसन्दंशमध्यपाठात्, श्राद्धस्य च वचनान्तरविहितत्वात्।

तथाच मनुः—

'स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितृन् श्राद्धेन नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा'॥ १७॥

[मनु० ३-८१]

न च जननक्रमेणानन्तर्यग्रहणार्थं वचनम्, न तु प्रदातृत्वेनानन्तर्यार्थमिति वाच्यम्, जननक्रमस्य वचनादनवगतेः, किन्तु उदकवत् त्रिभ्यः पिण्डदानं चतुर्थोऽवस्तनः पिण्डदाता, पञ्चमस्तु पूर्वतनो न सम्प्रदानं, नाप्यधस्तनः पञ्चमः पिण्डदातेत्यभिधाय, आनन्तर्यमभिदधानो मनुः प्रदातृत्वातिशयेनैवानन्तर्यं ज्ञापयति ॥१८॥ तस्मात् यो यस्तत्कुलोत्पन्नोऽतद्गोत्रोऽपि स्वदौहित्रपितृदौहित्रादिरतत्कुलोत्पन्नो वा मातुलादिर्धनिनो मृतस्य पितृमातृकुलगतत्रैपुरुषिकपिण्डदातृतया एकपिण्डसम्बन्धेन सपिण्डः, तस्य तस्याप्यधिकारार्थम् त्रयाणामिति वचनम्। आनन्तर्येण च विशेषार्थमनन्तर इति वचनं वर्णनीयम्॥ १९॥ तेन मृतभोग्यमृतदेयपित्रादित्रयपिण्डदातुः पितृदौहित्रादेरभावे मृतदेयमातामहादिपिण्डदातॄणां मातुलादीनामानन्तर्यक्रमेणाधिकारो बोद्धव्यः॥ २०॥ एतत्पर्यन्ताभावे तु सकुल्यः।

तदाह मनुः—

'तदभावे सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा।'

[मनु० ९-१८७]

सकुल्यः-विभक्तपिण्डः प्रतिप्रणप्तृतःप्रभृति पुरुषत्रयमधस्तनं वृद्धप्रपितामहादिसन्ततिश्च॥ २१॥ तत्रापि प्रतिप्रणप्त्रादेरानन्तर्यं पिण्डलेपद्वारेण तेषामुपकारकत्वात्, तदभावे च वृद्धप्रपितामहादिसन्ततिः मृतदेयपिण्डलेपभोगिभ्यो वृद्धप्रपितामहादिभ्यः पिण्डदातृत्वात्॥ २२॥ एवंविधसकुल्याभावे च समानोदकाः सकुल्यपदेनैवोपात्ता मन्तव्याः॥२३॥ तेषाम-

भावे आचार्यः, तस्याप्यभावे शिष्यः, 'आचार्यः शिष्य एव वे'ति मनुवचनात्। तदभावे सब्रह्मचारी-शिष्यः। सब्रह्मचारिण इति निर्देशात् ॥२४॥ तदभावे चैकगोत्राः, तदभावे चैकप्रवराः, 'पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धा ऋक्थं भजेरन्नि'ति २८-१६ गौतमवचनात् ॥२५॥ उक्तपर्यन्तानान्तु सर्वेषामभावे ब्राह्मणा तद्धनम्

गृह्णीयुः। यदाह मनुः—

'सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थहारिणः।
त्रैविद्याः शुचयो दान्ता एवं धर्मो न हीयते' ॥

[मनु० ६,१८२]

भोगेन क्षीयमाणोऽपि धर्मस्तदीयधनस्य ब्राह्मणगामित्वेनापरधर्मप्राप्त्या आपूर्यमाणो न हीयत इति, अत्रापि धनस्य तादर्थ्यमेव पुरस्करोति॥ २६ ॥ तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजा गृह्णीयात्। गोत्रर्षिसम्बन्धानां ब्राह्मणानां चाभावः तद्ग्रामे बोद्धव्यः, अन्यथा राजाधिकारस्य निर्विषयत्वापत्तेः ॥२७॥ तत्र यदि त्रयाणामित्यादिना पितृ-दौहित्र-मातुलादीनामधिकारो नोक्तः स्यात्। तदा सकुल्यादीनां नियतक्रमाणां मध्येऽनुप्रवेशाभावादधिकार एव न स्यात्। न च मा भूदिति वाच्यम्। याज्ञवल्क्येन तेषां गोत्रज-बन्धुपदाभ्यां दर्शितत्वात्। तस्मात् मनुनापि त्रयाणामित्यादिनैव दर्शितमिति वाच्यम्। तस्मात् यथा यथा मृतधनस्य तदुपयुक्तत्वं भवति, तथा तथा अधिकारक्रमोऽनुसरणीयः॥ २८ ॥ अतएव पुत्र-पौत्र-प्रपौत्राणां तुल्यवदेवाधिकारः सिध्यति, 'पुत्रेण लोकान् जयती'त्यादिवाक्येभ्यस्तुल्योपकारश्रुतेः तत्पिण्डदानाविशेषात्। अतएव जीवत्पितृकयोः पौत्रप्रपौत्रयोरनधिकारः सिद्ध्यति, 'न जीवन्तमतिदद्यादि'ति श्रुत्या जीवन्तं पितरमतिक्रम्य तयोः पार्वणनिषेधादनुपकारकत्वात्। अन्यथा मृतपितृकयोरिव तयोरपि स्यात्, जननक्रमेण च सपिण्डानन्तर्यात् पुत्रस्यैव स्यात्, न पौत्रप्रपौत्रयोः, न च पुत्रादीनां त्रयाणाम् युगपदधिकारप्रतिपादकं वचनमस्ति। तस्मादुपकारकत्वाविशेषादेव तुल्यवद्धनसम्बन्धोऽभिधेयः॥ २६ ॥ एवञ्च सर्वत्रोक्तरीत्या मृतधनस्य मृतार्थत्वमनुसन्धेयमुक्तक्रमेण ॥३०॥

उपकारकत्वातिशयेन धनसम्बन्ध इत्यस्य निगमनम्

स चायमर्थः दायभागप्रकरणे पुत्रादीनामुपकारकत्वातिशयाभिधानस्य, अनन्यप्रयोजनकत्वात्।

'पितृणामनृणश्चैव स तस्माल्लब्धुमर्हति।'

इत्यानृण्यकरणस्य धनलाभहेतुत्वेन कीर्तनात् ॥

'दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत्' । [मनु० ९-१३९]

इत्यनेनापि सन्तारणस्य धनसम्बन्धहेतुत्वेन निर्देशात्, पुत्रादीनाञ्च त्रयाणां सन्तारणादन्यस्य तुल्यवद्धनसम्बन्धकारणस्याभावात् 'अग्रहाणामुदकमि'त्यादेश्चानर्थक्यापत्तेः क्लीव-पतित-जात्यन्धादीनाञ्चानुपकारकत्वानंशित्वाभिधानस्योपपत्तेः प्रतिसम्बन्धिनाञ्चाधिकारार्थं वचनकल्पनागौरवात्, तदर्जितधनस्य च तदुपकारतारतम्येन तादर्थ्यसम्पादनस्य न्याय्यत्वात्, उपकारकत्वेनैव धनसम्बन्धो न्यायप्राप्तो मन्वादीनामभिमत इति मन्यते ॥ ३१ ॥ इति निरवद्यविद्याधीतेन द्योतितोऽयमर्थो विद्वद्भिरादरणीयः ॥ ३२ ॥

अथात्रापरितोषो विदुषाम् वाचनिक एवायमर्थः । तथापि तथोक्त एव वचनयोरर्थो ग्राह्य इत्यस्तु किं विस्तरेण ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणधनवर्जं राजा गृह्णीयात् ।

तदाह मनुः—

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।
इतरेषान्तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ [मनु ९-१८९]

सर्वशब्देन ब्राह्मणपर्यन्तस्योपादानम् ॥ ३४ ॥ वानप्रस्थ-यति-ब्रह्मचारिणां धनं 'धर्मभ्रातृ-सच्छिष्याचार्याः गृह्णीयु, तदभावे एकतीर्थः एकाश्रमी गृह्णीयात् ।

तदाह याज्ञवल्क्यः—

वानप्रस्थ-यति-ब्रह्मचारिणामृक्थभागिनः ।
क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः ॥ ३५ ॥ [याज्ञवल्क्य १-१३८]

प्रतिलोमक्रमेण यथासम्भवं धनं ज्ञेयम् । ब्रह्मचारी च नैष्ठिकोऽभिमतः, पित्रादिपरित्यागेन यावज्जीवमाचार्यकुलनिवास-परिचर्यानिष्ठायाः तेन कृतत्वात्, उपकुर्वाणस्य तु धनं पित्रादिभिरेव ग्राह्यम्, इति अपुत्रधनविभागः ॥ ३७ ॥

इति पारिभद्रीयस्य महामहोपाध्यायस्य श्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने दायभागेऽपुत्रधनाधिकारो नामैकादशाध्याये षष्ठः परिच्छेदस्समाप्तः ।

एकादशाध्यायश्च समाप्तः

—: * :—

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथ संसृष्टधनविभागः :

तत्र मनु-विष्णू—

'विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्यात् ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते' ॥ १ ॥

[मनु ९-२१० विष्णु १८-४१]

समस्तत्रेति सवर्णभ्रातृसंसर्गाभिप्रायेण, ब्राह्मणक्षत्रिययोस्तु संसर्गे पूर्वक्लृप्तभागानुसारेणैव भागव्यवस्था बोद्धव्या । पूर्वक्लृप्तज्येष्ठांशनिषेधमात्रपरं हि समवचनम् ।

अतएव बृहस्पतिः—

'विभक्ता भ्रातरो ये तु सम्प्रीत्यैकत्र संस्थिताः ।
पुनर्विभागकरणे तेषां ज्यैष्ठ्यं न विद्यते' ॥

इति ज्येष्ठांशमात्रं निषेधति, न तु भागसाम्यमेव बोधयति ॥२॥

संसर्गिणश्च वृहस्पत्युक्ताः—

'विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः ।
पितृव्येणाथ वा प्रीत्या स तु संसृष्ट उच्यते' ॥ इति ॥ ३ ॥

परिगणितव्यतिरिक्तेषु संसर्गकृतो विशेषो नादरणीयः । परिगणनानर्थक्यात् ॥ ४ ॥ विशेषा भ्रात्राधिकारनिरूपणप्रकरणोक्ता अनुसन्धेयाः ॥५॥ इति संसृष्टविभागः ॥ ६ ॥

इति पारिभद्रीयस्य महामहोपाध्याय श्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने दायभागे संसृष्टविभागो नाम द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ।

—— ——

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ विभागकाले निह्नुतस्य पश्चादवगतस्य विभागः ।

तत्र मनुः—

'ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्तं यथाविधि ।
पश्चाद्दृश्येत यत्किञ्चित् तत् सर्वं समतां नयेत् ॥ १ ॥

[मनु ९-२१८]

पूर्वं यथा यस्य विभागकल्पना कृता, तत्समानैव कार्या, न पुनरपहर्तुरपहर्तृ तया अल्पभागो दातव्यो न दातव्य एव वेति । समतां नयेदित्यस्यार्थः, न पुनस्तत्र द्रव्ये सर्वेषां समभागार्थं वचनमिदम्, विंशोद्धारादिबाधे हेत्वभावात् ब्राह्मणक्षत्रियादीनाञ्च समभागापत्तेः ॥ २ ॥

तथाह याज्ञवल्क्यः—

'अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्तैर्यत्तु दृश्यते ।
तत् पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः' ॥ ३ ॥

तथा कात्यायनः—

प्रच्छादितन्तु यद् येन पुनरागत्य तत् समम् ।
भजेरन् भ्रातृभिः सार्द्धमभावेऽपि हि तत्सुताः ॥
अन्योन्यापहृतं द्रव्यं दुर्विभक्तञ्च यद्भवेत् ।
पश्चात् प्राप्तं विभज्येत समभागेन तद् भृगुः ॥ ४ ॥

असम्यक् विभक्तस्य पुनर्विभागनिरूपणं, दर्शयति । सकृदंशो निपततीति (याज्ञ०२-१२७) तु सम्यग्विभागविषयम् ॥ ५ ॥ 'पश्चात् प्राप्तमि'ति न पुनः पूर्वविभक्तमपि विभजनीयमित्यर्थः ॥ ६ ॥

तथा कात्यायनः—

बन्धुनापहृतं द्रव्यं बलान्नैव प्रदापयेत् ।
बन्धूनामविभक्तानां भोगं नैव प्रदापयेत् ॥

शमादिना दाप्यः, न बलात् । अविभक्तेन तु तदधिकं भुक्तम्, तदसौ न दाप्यः ॥ ७ ॥ अत्र च साधारणधने परधनमप्यस्तीति तन्निहनवे स्तेन एव भवति किल्बिषी चेति ये मन्यन्ते, तान् प्रत्युच्यतो य एव हि परस्येदमिति विशेषं जानानः परस्वे स्वत्वहेतुमन्तरेणैव स्वत्वमारोपयति, स स्तेन इति

लोकप्रसिद्धोऽर्थः न चात्रेदं परकीयं इदं वा ममेति विवेक्तुं शक्नोति द्रव्यस्याविभक्तत्वात् । यथा यदेव हि ममेदमिति विशेषं जानानः परस्वत्वापत्तये स्वामी त्यजति, परश्च विशेषेणेदं ममेति स्वत्वं प्रत्येति । तत्रैव दाननिष्पत्तिः । न च साधारणधने तथा सम्भवतीति, साधारणधनमदेयमुक्तम् ।

तथा स्तेयमपि नैतन्मम धनं परस्येदमिति जानत एव भवतीति न साधारणधनापहारे स्तेयनिष्पत्तिः ॥ ८ ॥ अपहारपदन्तु सङ्गोपनाभिप्रायम् । न हि सङ्गोपनं स्तेयमुक्तं असङ्गुप्तग्रहणेऽपि स्तेयपदप्रयोगप्रदर्शनात् ।

तथात्र कात्यायनः—

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा निशायामथ वा दिवा ।
यत् परद्रव्यहरणं स्तेयं तत् परिकीर्तितम् ॥

अतएव राज्ञा बलात् न दाप्य इति पूर्वमुक्तम्, चौरत्वे तु ।

'चौरं प्रदाप्य अपहृतं घातयेद्विविधैर्वधैरि'ति (याज्ञ०२-२६८) वचनादास्ताम् । समादिना दापनं घातनमपि कार्यम् ॥ ९ ॥ एतच्च मुनिभिरपहर्तुरपि विभागदानप्रतिपादनादुन्नीयते ॥ १० ॥ तदुक्तं विश्वरूपेणापि अतः तस्करदोषो नास्तीति वचनारम्भसामर्थ्यात्, स्तेनधात्वर्थानिष्पत्तेरित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥ अतएव प्रायश्चित्तकाण्डे जितेन्द्रियेण भणितं यदि स्वर्णमेव परकीयं लौहादिबुद्धया गृह्णाति, असुवर्णं सुवर्णबुद्धया आत्मीयसदृशम् परकीयमेव आत्मीयबुद्धया गृह्णाति सर्वत्र नापहारनिष्पत्तिः, सर्वत्र यथावस्तु परकीयबुद्धेरभावात्, तद्वदत्रापि समानम् । विभागात् पूर्वं तद्वदङ्ग्यैकदेशविशेषगतस्वत्वस्यापरिज्ञानात् । अतो नात्र स्तेयनिष्पत्तिः ॥ १२ ॥ सत्यपि वा स्तेयेऽपहर्तुरपि विभागवचनदर्शनात् न स्तेयदोषः, अन्यथा सुवर्णादिनिह्नवे पतितस्य भागो न स्यात् ॥१३॥ अथ पातकहेतुसुवर्णापहारेऽपि स्तेनस्य भागः इति विशेषवचनाभावात् द्रव्यान्तरस्तेयविषयो भागविधिर्वर्ण्यते, एवं तर्हि सुवर्णादिस्तेयनिषेध एव किमिति असाधारणपरकीयमात्रद्रव्यगोचरो न व्यवस्थाप्यते, तथापि किं विनिगमनाप्रमाणमिति चेत् ;

उच्यते । परद्रव्यहरणं स्तेयमिति परशब्दात् आत्मीयत्वव्यवच्छेदेनव परकीयत्वस्यावगमात् साधारणासाधारणयोश्चासाधारणस्यैव शीघ्रप्रतीतेः । यथा 'इष्टिपूर्वकमेवादः पौर्णमासं हविरि' ति अग्नीषोमीयपुरोडाशस्यैवोत्कर्षः, नोपांशुयाजीयाज्यस्य, अग्नीषोमीयानग्नीषोमीयस्य साधारणत्वात् ॥ १४ ॥ अतएव लोकेऽपि नैवंविधविषये क्वचिद्विनिगमनादिकं दृश्यते ॥ १५ ॥ अतो यद्द बालकवचनं, यथा मुद्गापचारे माषप्रतिनिधौ मुद्गानां

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

नाचार्यगौरवपराहतदायभाग-
तत्त्वप्रबोधजनरञ्जनमत्र शक्यम् ।
किन्तु प्रमाणपरतन्त्रधियां मुनीनाम्
संवादमात्रकृतये कृतिनः प्रयत्नः ।। १ ।।

बहुविधपूर्वनिबन्ध-व्याख्यासञ्जातसंशयस्यैतत् ।
जीमूतवाहनकृतं प्रकरणमुपपत्तये ध्येयम् ।। २ ।।
परिभद्रमकुलोद्भूतः श्रीमान् जीमूतवाहन ।
दायभागं चकारेमं विदुषां संशयच्छिदे ।। ३ ।।

इति पारिभद्रीय महामहोपाध्याय-श्रीजीमूतवाहनस्य कृतौ धर्मरत्ने
दायभागे पञ्चदशोऽध्यायस्समाप्तः ।

।। दायभागस्समाप्तः ।।

---o---